हिंदी-कविता

(हिंदी की पुरानी और नई रगत की कविता की
तुलनात्मक समीक्षा)

लेखक
कुँअर सूर्यबली सिंह, एम. ए.,
साहित्यरत्न

प्रकाशक
सरस्वती मंदिर
जतनबर, बनारस

१९५४] [मूल्य ३॥)

अपनी बात

प्रगतिवाद कही जाने वाली काव्य-धारा की चर्चा के अभाव में "हिंदी की प्राचीन और नवीन काव्य धारा" दो तीन वर्ष में ही पुरानी पड़ गई थी। किंतु "जिस तीर्थ[1] के दर्शन एवं मार्जन के पुण्य से मेरा मानस-हंस नीर-क्षीर-विवेक की ओर उन्मुख हुआ" था उसके अमोघ आशीर्वाद से वह पंद्रह वर्ष तक बराबर चलती रही और आज भी चल रही है। बड़ों की प्रार्थना में भी आदेश की गुरुता रहती है, फिर गुरु की आशा*आज्ञा क्यो न मानी जाय ? किंतु विश्व प्रंपच में अत्यधिक संलग्न रहने के कारण मेरा ध्यान उस आज्ञा की ओर न गया जो हिंदी की 'प्राचीन और नवीन काव्य धारा' के परिचय में मुझे पूज्य शुक्ल जी से मिली थी। जाता भी कैसे ? साहित्यिक जीवन मे अपने को मृतप्राय जो मान बैठा था। मेरे आदरणीय पं० विश्वनाथ प्रसाद जी से यह न देखा गया। वे पहले तो विश्वनाथ पुरी से

---

१ आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल

* "अतः हमें पूरी आशा है कि ....सूर्यबली सिंह जी बराबर अपने साहित्य की गतिविधि इसी प्रकार परखते रहेंगे (दे० आचार्य शुक्ल जी द्वारा दिया गया 'हिंदी की प्राचीन और नवीन काव्य धारा' का परिचय)

ही गुरु-ऋण की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करते रहे, किंतु जब दूर का प्रभाव न पड़ा तब अपनी पुरी छोड़ कर इस वन्य प्रांत सहडोल में दौड़े आए और बतलाया कि काशी से अलग होकर भी तुम जीवित हो, तुम्हारी 'धारा' चल रही है और उसकी आवश्यकता बराबर बनी रहेगी। पर गुरुवर की आशा पूरी नहीं हुई है, उसे अब पूरी करो। अमरकंटक की उस पुण्य भूमि मे जहाँ से विंध्य-जीवन नर्मदा और सोन से प्रगति पाकर उत्तर और दक्षिण भारत को एक ही नही करता वरन् स्निग्ध भी बनाता है अपनी विवशता प्रकट करके अपने पं० जी का जी कैसे दुखाता ? अतः उनसे 'बहुत अच्छा' कहना ही पड़ा। इधर मेरे प्रिय मित्रो और शिष्यो का भी यह आग्रह बराबर बना रहता कि आप 'हिंदी कविता' के संबंध में जो कुछ सोचते-विचारते और कहते-सुनते है उसे लिपिबद्ध कर डालिए। 'धारा' के प्रकाशक जी भी उसकी प्रथम आवृत्ति से ही उसके कायाकल्प करने का तकाज़ा करने लग गए थे। इन सब दबावो से मेरी दीर्घसूत्रता टूटी और 'हिदी कविता' का अध्ययन प्रारंभ हुआ—उसी अमरकंटक में जहाँ दो वर्ष पूर्व मैं पं०विश्वनाथ प्रसाद जी से प्रतिश्रुत हुआ था। सबसे पहले 'हिदी कविता' का 'कला-पक्ष' उठाया गया जो बड़े मनोयोग और तत्परता से चला। इससे जो गति प्राप्त हुई वह 'विभाव-पक्ष' तक चलती रही। किंतु 'भाव पक्ष' में आते-आते संकट उपस्थित होने लगे और पुस्तक समाप्त होते होते मृत्यु से युद्ध छिड़ गया जिससे सब काम ठप्प हो गया। आशा न थी

कि प्रकाशित पुस्तक देख सकूँगा। किंतु भगवान के यहाँ कमी किस बात की? अस्तु, मैं अच्छा तो हो ही गया साथ ही 'हिंदी कविता' भी पूरी हुई जो २०-२५ पृष्ठ के कारण अपूर्ण पड़ी रह गई थी। पुस्तक कैसी बन पड़ी है, यह तो विज्ञपाठक ही बतला सकेंगे। मुझे इस सम्बन्ध मे कुछ कहने का न अधिकार है और न आवश्यकता ही, जो कुछ है, सब सामने है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जैसे मेरे और सब ग्रंथो मे वैसे ही 'हिंदी कविता' के लिखने में भी यदि प्राध्यापक पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र की प्रेरणा न होती तो संभवतः इसका श्रीगणेश ही न होता। इसी प्रकार यदि भाई किशन (कृष्ण प्रताप सिह एम० ए०) मुझे बार बार न उकसाते रहते तो जो काम दो वर्ष मे हुआ है वह संभवत. चार वर्ष में भी न हो पाता। पुस्तक पूरी हो जाने पर भी मुद्रित होने योग्य वह शायद ही होती यदि श्री ब्रजेंद्र सिंह एम० ए०, जो बब्बा होने के कारण सांसारिक नाते से गुरु हैं, अपने बनाए संबंध से शिष्य, सामाजिक नाते से मित्र हैं और प्रशासकीय संबध से सहायक-का तन-मन-वचन सब प्राप्त न होता। इसी प्रकार मैं अपने प्रिय शिष्यो चि० केशव (केशव प्रताप सिह), सरोज (कुमारी सरोज ओढेकर) तथा रमा (कुमारी मनोरमा चौधरी) को भी नहीं भुला सकता जिन्होने अपने एम० ए० की तैयारी की चिता छोड़कर इस पुस्तक के प्रूफ के लेने-देने और देखने में मेरी सहायता की। किंतु इन सबसे मेरा कुछ ऐसा संबंध है कि इन्हें मेरा आभार स्वीकार

करना भार स्वरूप प्रतीत होगा। अतः इन सबके संबंध में यदि कुछ कह सकता हूँ तो यही कि 'देवे को न कछू रिनिहा हौं, धनिक तू पत्र लिखाव।" यहाँ मैं अपने प्रकाशक जी को भी कदापि नहीं भूल सकता जिनका पुस्तक प्रकाशन संबंधी सचेष्ट प्रयत्न मेरी बहुरंगी अड़चनो मे कभी न हारा और जिन्होंने 'धारा' को बदलवा कर ही दम लिया। मैं उन विद्वानो और कवियो का भी कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रंथो का योग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में 'हिंदी कविता' में हो गया है।

मकर संक्रांति
सं० २०१०
सहडोल
विंध्य-प्रदेश

सूर्यबली सिंह

आदि-कथन

शब्द और अर्थ का साहित्य 'काव्य' है। साहित्य का तात्पर्य यथावत् सहभाव है। जितनी शक्ति शब्द की उतनी ही व्यक्ति अर्थ की, दोनो शिवा-शिव की भाँति संपृक्त। न शब्द प्रधान, न अर्थ गौण। यही काव्य का, साहित्य का अन्य वाङ्मयों से पार्थक्य है, भेदक लक्षण है। पर 'यथावत् सहभाव' होते हुए भी कभी 'शब्द' पर विशेष ध्यान देना पड़ता है, कभी अर्थ को सावधानी से सहेजना पड़ता है। इसी सूक्ष्मेक्षिका से प्राचीन आचार्यों ने शास्त्र में काव्य के शब्द और अर्थ का विचार रखकर काव्य के सौंदर्य, शैली, गुण, व्यक्ति आदि का विवेचन किया है। उनके शब्दगत और अर्थगत भेद किए हैं। काव्यकृति के करने में नये शब्दो का और नये अर्थों का निर्माण कोई थोड़े ही किया करता है। केवल शैली और ग्रथनकौशल से वह नूतनता लाता है—

त एव पदविन्यासास्ता एवार्थविभूतयः।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथनकौशलात्॥

'पदविन्यास' और 'अर्थविभूति' वही हो, पर यह निश्चित है कि कभी पदविन्यास पर अधिक दृष्टि रहती है और कभी अर्थविभूति पर। कविता में जितने परिवर्तन या 'वाद' दिखलाई

देते हैं वे इसी दृष्टिभेद से हैं। यदि कभी पदविन्यास पर अधिक ध्यान है तो आगे चलकर अर्थविभूति पर अधिक दृष्टि रहेगी। अर्थविभूति पर अधिक दृष्टि के अनंतर फिर पद-विन्यास पर अधिक ध्यान ! इसी प्रकार आनंतरिक रूप में शब्द और अर्थ पर ध्यान और दृष्टि ! 'हिंदी-कविता' का सारा इतिहास शब्द और अर्थ की चक्रारपक्ति की गति है। कभी एक नीचे दूसरा ऊपर और कभी पहला ऊपर और दूसरा नीचे। चक्रनेमिक्रम से शब्द-अर्थ ऊपर-नीचे होते रहते है। 'हिंदी-कविता' का आरंभ 'रासो-काव्य' से मानते है। उसमें से सब नही तो कुछ छद सही, प्रारंभिक सिद्ध किए जाते हैं। उनमें शब्द की ओर जितना झुकाव है उतना अर्थ की ओर नहीं। जो शब्द की ओर विशेष लपकता है उसकी प्रवृत्ति छदःपरि-वृत्ति की भी होती है। छंद-परिवर्तन से विशेष विशेष प्रकार की शब्द-ध्वनि, गीति-संगीति से श्रवणसुखदता उत्पन्न की जाती है। यह सब वहाँ भी है। शब्द-ध्वनि पर तो वे इतना टूटे कि शब्दों का अंगभंग ही हो गया। किसी शब्द का क्या रूप हो जायगा या है यह कहना और समझना कठिन ! पदों पर इतना अधिक भार कि वे लचक-मचक गए। भाव के नैसर्गिक प्रवाह से उसके कर्ता दूर जा पड़े। उनकी भाषा कृत्रिम हो गई—गढ़ंत। चारण-भाटों का ही वह 'भणंत' है, लोकभाषा का लालित्य उसमें कहाँ ! उधर अर्थविभूति को देखिए तो एक ही प्रसंग में एक ही अर्थ की द्विरुक्ति-त्रिरुक्ति !

पर यह स्थिति भक्तिकाव्य में नहीं रही। सूरदास के गीतो में विविधता है, छंदोभेद भी है, पर गीतों की सजातीयता भी, गीत ही गीत सर्वत्र! क्यों? अर्थ की लालसा विशेष होने से। एक गीत में पुनरुक्ति न मिलेगी, गीतों की पुनरुक्ति भले ही हो। उस काल में काव्य से विशेष वास्ता न रखनेवाले कबीर भी चिल्लाते है—'भाव अनोखो चाहिए भाषा कोऊ होइ'। फिर तुलसीदास का क्या कहना उनका उद्घोष है कि

अरथ अमित अति आखर थोरे।

भक्ति-वाङ्मय 'अमित अर्थ' के संग्रह में लगा और 'आखर' (शब्द) थोड़े होते गए। 'अमित' का तात्पर्य आधिक्य, वैविध्य अर्थात् प्रधानता का है, 'थोरे' का अभिप्राय न्यून ही नहीं, गौण भी है। जायसी आदि सूफी कवियो की ओर मुड़िए तो वहाँ भी अर्थ पर, अर्थ की प्रधानता पर ही दृष्टि है—

तुरकी अरबी हिंदुई भाखा जेती आहि।
जा महँ मारग प्रेम को सुजन सराहहिं ताहि॥

पर रीति-मार्ग की नीवँ देनेवाले हिंदी-गगन के उडुगन केशवदासजी आगे चलकर यह घोषणा करते है—

जदपि सुजाति सुलक्षनी सुबरन सरस सुबृत्त।
भूषन बिन न बिराजई कबिता बनिता मित्त॥

फिर अलंकार-चमत्कार की प्रवृत्ति हुई, शब्दों की तड़क-

भड़क में कवि-दृष्टि जा अटकी। यह क्रम पद्माकर तक चलता रहा, रीतियुग या श्रृंगारयुग वा अलंकृतयुग (जो भी कहिए) के अंत तक, और सुनने को मिलता रहा—

कूलन मे केलिन में कुंजन कछारन मे
क्यारिन मे कलित कलीन किलकंत है।
पढ़ै पदमाकर परागन मे पौन हू मे
पानन मे पीक मे पलासन पगंत है।
द्वार मे दिसान मे दुनी मे देस देसन मे
देखौ दीप दीपन मे दीपत दिगंत है।
बीथिन मे ब्रज मे नवेलिन मे बेलिन मे
बनन मे बागन मे बगर्यो बसंत है।

इसका तात्पर्य यह न समझा जाय कि इस युग में अर्थ की ओर ध्यान देनेवाले थे ही नहीं। थे, पर उनकी संख्या थोड़ी थी। कबित्त बनाने में लगे रहनेवाले ('लोग हैं लागि कबित्त बनावत') अधिक थे, 'डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच' ही अधिक थे, 'जग की' (तत्सामयिक) कविता का प्रवाह शब्द-चमत्कार की ओर अधिक था। स्थापना शब्द-प्रधानता और अर्थ-गौणता की है। शब्द-प्राधान्य पर ध्यान देनेवाले अधिक हों तो स्थापना प्रमाणित!

फिर समय ने पलटा खाया। हिंदी-कविता नवोन्मेष से युक्त होकर आगे बढ़ी, नवीन साज-सज्जा से सामने आई और भारतेंदु ने अपना शीतल प्रकाश फैलाया। पर कोई दिखा तो

दे कि भारतेंदु में, बालेंदु में, शब्द की तड़क-भड़क का लांछन है। उनके युग में सभी अर्थ के चाहक-गाहक अधिक दिखेंगे, शब्द का ढोल मे पोल यहाँ नहीं। पर खड़ी बोली का डिंडिम-नाद हुआ तो फिर शब्द पर अड़नेवाले दिखने लगे। ऐसो की रचना को इतिवृत्तात्मक कहा गया अर्थात् इसमें अर्थ-संपत्ति वैसी नहीं है जैसी शब्द-संपत्ति। तुक में, रदीफ और काफिया में, समस्यापूर्ति मे फिर सर खपाने की प्रवृत्ति बढ़ी। पर यह स्थिति अधिक दिनो तक न टिकी, रहस्यवाद का बोल बाला हुआ और अर्थ की पुकार मची। पर रहस्यवाद के साथ छायावाद भी लगा आया। अर्थ की प्रधानता का पीछा शब्द की प्रधानता करने लगी। उसके आरभिक प्रवर्तक या कुछ कवि-कर्ता अर्थ को ध्यान मे रखकर शब्द प्रयुक्त करते रहे तो बहुतो की अनंत की पुकार, अनंत की ही भाँति अर्थशून्य भी होने लगी। अनत नैयायिको के अनुसार शब्दगुण होता है, अर्थगुण नही। छाया-वाद के नाम पर हुई बहुत-सी रचना शब्दो का संभार है, अर्थ का पुष्ट आधार वहाँ कहाँ! जहाँ अर्थ है, जो समर्थ स्रष्टा हैं, सिद्ध-प्रसिद्ध, पक्व-परिपक्व हैं, वे भी नूतन शब्दविन्यास, शैली के रीतिगत चमत्कार से रहित नही। भले ही यहाँ शब्दसंपत्ति रीतिमार्गी कर्ताओ की सी न हो, पर यह कौन कह सकता है कि नूतन शब्दराशि से वहाँ नूतन अर्थनिधि अधिक है। शब्द के पलड़े की अपेक्षा सर्वत्र अर्थ का पलड़ा झुका ही हुआ है। जो भी हो, अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि कुछ

ही में शब्द और अर्थ का संतुलन है। दोनों पलड़े बराबर हैं। या यही मान लीजिए कि जो शुद्ध रहस्यवादी है, प्रकृतिवादी हैं उनमें तो अर्थ की आभा अधिक है, किंतु जो कोरे छायावादी हैं उनमें शब्द की साधना प्रकाम है, अर्थ की आराधना अकाम।

यह शब्दसाधना कब तक देखी जाती। अतः अर्थ की गुहार करनेवाले प्रगतिशील या प्रगतिवादी मैदान मे आए और शब्दो की उपेक्षा होने लगी। अर्थ की अपेक्षा (कई अर्थों में) इनकी कृति मे मिलेगी। अर्थ का यह अनुरोध उन्हें न भाया जिन्हें अर्थ-काम होने मे अनर्थता दिखी वे अब प्रयोगवाद के नाम से शब्दयोग मे जुट गए हैं। प्रयोगवाद की जड़ चाहे अमेरिका से ढूँढ निकालिए चाहे योरप से, पर उसकी लता में गुंजार करनेवाले मिलेंगे शब्द-मधुप ही। अर्थ का मधुरस वहाँ वैसा न मिलेगा।

इस प्रकार हिंदी-साहित्य की सर्जना का आपादमस्तक अवलोकन कर लेने पर शब्द-अर्थ के आनतरिक उत्थान-पतन, आरोहावरोह, न्यूनाधिक्य का क्रमिक रूप दृष्टिपथ मे आ जायगा। जिज्ञासा हो सकती है कि क्या शब्द-अर्थ के संतुलन का कोई उपाय भी है। हाँ, है। उसी को शास्त्राचार्य 'रस' कहते हैं। 'रस' ही काव्य में वह तत्त्व है जो शब्द और अर्थ को घटनेबढ़ने से रोकता है, उनमे समरसता रखता है। 'रस' से नाकभौंह सिकोड़ने की अपेक्षा उसके आमोद का आघ्राण-आस्वाद कहीं श्रेयस्कर है। 'रस' और कुछ नही 'रमणीयता' ही तो है।

जिस कविता का कर्ता रमणीयता के लोक का द्रष्टा है वह अपने श्रोता को भी रमणीयता के उसी लोक के दर्शन करा सके तो शब्द-अर्थ का साहित्य बना रहे। यदि ऐसा न होगा तो मानदंड वक्र हो जायगा और संतुलन बिगड़ जायगा। व्यक्ति-व्यक्ति की अनुभूमि मे अंतर होता है, व्यक्ति-व्यक्ति की अभिव्यक्ति में अंतर होता है, पर इस अनुभूत्यंतर और अभिव्यक्त्यंतर के अंतरतम में समत्व एवम् एकत्व की धारा प्रवाहित होती रहती है। इसी धारा मे अवगाहन करना-कराना काव्य का साध्य है। जो इस साध्य को भूलकर व्यक्ति की सीमा मे ही अधिक आबद्ध रहता है वही काव्य के यथार्थ प्रवाह से, उस प्रवाह से दूर जा पड़ता है जो सर्वहृदयस्पर्शक्षम है, जो सहृदयहृदयसंवेदमहिम है, जो अभेदानुभूतिजागरणक्रम है।

प्रस्तुत पुस्तक के सहृदय समालोचक ने तटस्थ बुद्धि से हिंदी की प्राचीन और नवीन कविता के गुण-दोषो का विवेचन सूक्ष्म-दृष्ट्या किया है। पर मानदंड या कसौटी सार्वभौम रखी है। नई कविता—नई कसौटी, नई वस्तु—नई तुला की पुकार भ्रमात्मक है। नई कविता को प्रसरित हुए (यदि भारतेंदु-युग से उसका प्रसार माना जाय तो) शत वर्ष हो चुके। नई कसौटी और नई तुला का घोष होते भी अर्धशती के लगभग हो रहा है, पर न कोई नया निकष बना, न कोई नया बटखरा। जो भी सामने रखा जाता है वह विदेशी माल है। अपनी विवेक-बुद्धि, ऊहापोह और चिंतन से शास्त्र-मंथन करनेवाले प्राचीनो

की भाँति यहाॅ कोई नूतन दिग्दर्शन कहीं नहीं। साहित्य के किसी पुराण-पंथी का कहना यह नही कि 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते', पर अशास्त्रीय आलाप या अपलाप करने की अपेक्षा शास्त्र-दृष्टि से विचार करना कम से कम हानिप्रद तो नहीं! निर्माणकर्ता स्वच्छद हो, हुआ करें, उससे काव्य या साहित्य की हानि नही, पर आलोचक या शास्त्र-चितक यदि स्वच्छंद हो जाएँ तो अराजकता हो जायगी, उपप्लव मच जायगा। भारतीय चिंतन-परंपरा यही रही है कि जो कुछ पूर्वाचार्यों ने कह दिया, उसमें जहाॅ कहीं या जो भी चिंतन के गंभीर परिणाम-स्वरूप अग्राह्य, त्याज्य, तिरस्करणीय प्रतीत हुआ उसका तर्क-बुद्धि से विमर्श किया गया। भारतीय साहित्यशास्त्र मे जो चितन हो चुका है वह अत्यधिक गभीरावगाहन का परिणाम है। प्राचीन काव्य की कुत्सा ठीक हो सकती है, प्राचीन अभिव्यक्ति की विगर्हणा माननीय मानी जा सकती है, प्राचीन छंदोविधान से मुक्ति की स्पृहा वांछनीय हो सकती है, पर साथ ही प्राचीन शास्त्र-चितन की अवमानना अपरिचय और अज्ञान का प्रकाशन है। 'पुराण काव्य' को असाधु कहते चलिए, नव्य को अनवद्य बताते रहिए; पर 'संतो' की पुरानी परख बेकार है, नई ही होनी चाहिए, यह भ्रमात्मक है। कसौटी टूट गई है, घिस गई है, खो गई है तो दूसरी सजातीय कसौटी की अन्वेषणा कर लीजिए। तुला का दंड घुन गया है तो उसे बदल डालिए, पर बटखरे बदलने से व्यवसाय मे धोखा-धड़ी का संदेह होगा। अस्तु।

प्रस्तुत पुस्तक में प्राचीन मानदंड को नवीन युग की कविता की जाँच के अनुरूप बनाकर लेखक ने बुद्धिमत्ता से विनियोजित किया है, पर बटखरे नहीं बदले हैं। फल यह है कि आपने 'बावन तोला पाव रत्ती' जाँच की है। यह पुस्तक हिंदी-आलोचना में नूतन सरणि का प्रयास है और इसका अनुसर्ता साधुवाद का अधिकारी है। हिंदी में इसका प्रसार होने और इसकी पद्धति से उद्बुद्ध होकर आलोचना-क्षेत्र मे प्रवृत्त होने मे साहित्य-चितन-परंपरा के नूतन उन्मेष की संभावना छिपी है जो नई कविता के पक्षपाती समालोचको के लिए भी अभिनंदनीय है।

वसंतपंचमी, २०१०
वाणी-वितान,
ब्रह्मनाल, काशी।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

विषय-सूची

१. **विषय-सीमा** १-१०

सामाजिक प्रवृत्ति के कारण १

प्रवृत्त्यनुसार हिंदी-कविता का काल-विभाजन ३

आधुनिक काल का विभाजन ५

काव्य के अग १०

२. **विभाव-पक्ष** १२-५९

विभाव विधान मे प्रकृति १४

विभाव विधान मे नारी २५

रतिभाव मे प्राचीन और नवीन आलंबन ३३

उत्साह के प्राचीन और नवीन आलबन ४६

हास के प्राचीन और नवीन आलंबन ४९

शोक के प्राचीन और नवीन आलबन ५२

क्रोध के प्राचीन और नवीन आलंबन ५५

उद्दीपन विभाव ५८

३. **भावपक्ष** ६०-१४४

कविता में भावों और विचारों का स्थान ६०

भाव ६२

काव्यगत मूलभाव ६४

रति की प्रधानता ६६

	हिंदी-कविता मे रति का स्थान	६८
	रस-व्यजना का प्राचीन एवं नवीन विधान	७९
	प्राचीन और नवीन कविता मे रतिभाव	८६
	प्राचीन और नवीन कविता में उत्साहभाव	१०७
	प्राचीन और नवीन कविता मे हासभाव	१२१
	प्राचीन और नवीन कविता मे शोक	१२५
	प्राचीन ओर नवीन कविता मे क्रोध	१३७
	अन्य स्थायी भाव	१४१
४.	कलापक्ष	१४५–२४७
	कला क्या है ?	१४५
	काव्यानुभूति तथा प्रत्यक्षानुभूति	१४६
	कला और प्रकृति	१४८
	काव्य मे कला का स्थान	१५३
	वर्तमान काल की कविता और कला	१५७
	कविता मे अलकार का स्थान	१६१
	अलंकार-विधान मे साम्य	१६४
	प्राचीन ओर नवीन कविता में अलंकार-विधान	१६५
	प्राचीन और नवीन कविता मे शब्दालंकार	१६७
	प्रगतिवाद में शब्दालकार	१७०
	प्राचीन और नवीन कविता के अर्थालकार	१७२
	प्रगतिवाद मे अलंकार विधान	१९२
	वृत्त	२००
	तुक	२०९
	गीत	२१३
	रीति	२२२
	भाषा	२३०

५. **उपसंहार** — २४८–२७३

नवीन कविता की कतिपय विशेषताएँ — २४८
छायावाद और प्रगतिवाद — २४८
छायावाद और प्रगतिवाद का समन्वय — २५०
प्रगतिवाद का घपला — २५४
विभावगत विशेषताएँ — २५९
कलागत विशेषता — २६८

६. **नामानुक्रमणिका** — २७५–२७९

हिंदी-कविता

विषय-सीमा

"पुराने का पतन होता नया तत्स्थान पाता है।
जगत् का क्रम यही है एक आता एक जाता है॥*

महाकवि टेनीसन का यह कथन कितना सत्य है! प्राचीनता का पतन और नवीनता का उत्थान ही परिवर्तन है जिसमें ससार के मूल और विकास का कारण छिपा हुआ है। संसार-क्षेत्र मे परिवर्तन का अनवरत प्रवाह प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न रूप में सदा बहा करता है। इस प्रवाह मे जगत् की रूढ़ियो की जर्जर जड़ विनष्ट होती रहती तथा नवीनता की लता हरी-भरी हो पल्लवित तथा कुसुमित होती रहती है। इसका फल कभी अमृतमय होकर समाज को इतिहास में अमर बनाता और कभी विषाक्त होकर उसका अस्तित्व ही नष्ट कर देता है। कुछ भी हो, देश और काल उसे चखने के लिए सदा सन्नद्ध रहते है, साथ ही परिवर्तन का स्वरूप भी ग्रहण करते जाते हैं। पर मनुष्य जिस प्रकार शारीरिक परिश्रम से दूर भागता है, उसी प्रकार मानसिक से भी। वह सदा दूसरो के परिश्रम के फल को चखना चाहता

सामाजिक प्रवृत्ति के कारण

---

* The old order changeth yielding place to new.

है। अतः वह महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अवलंबन किए आँख बद कर चलता रहता है। उसे उनको छोड़ने मे वेदना होती है, महाजनो की विचार-धारा से अलग होना उसके लिए दुष्कर हो जाता है। समय पर यही निष्क्रियता रूढ़ि-प्रेम को जन्म देती है और प्राचीन रूढ़ि जीवन की भाँति प्रिय हो जाती है। उसकी रक्षा के लिए हम मरते और मारते दिखाई पड़ते है। परिणाम यह होता है कि समाज की गति रुक जाती है। किंतु वह स्वभाव से गत्यात्मक (डायनैमिक) है। अतएव प्रच्छन्न रूप से परिवर्तन का प्रभाव पड़ता जाता है, किंतु लोग उसे निर्दिष्ट स्वरूप-नही दे सकते। इसके लिए किसी महापुरुष की आवश्यकता होती है। देश और काल के पूर्णतया तैयार हो जाने पर—सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों के बन जाने पर—किसी महापुरुष का आविर्भाव होता है जो परिवर्तन को विशिष्ट स्वरूप देता है और उसे समाज के सम्मुख स्पष्ट रूप में उपस्थित करता है। समाज उसे अपनाने के लिए पहले ही से तैयार रहता ही है। जब उसे पा जाता है तब वह उल्लास और उत्साह से भर जाता है,उसकी निष्क्रियता दूर हो जाती है, उसमे नए जीवन का संचार हो जाता है और सक्रिय होकर विकासवाद के सिद्धांत का एक ज्वलंत प्रमाण बन जाता है। सारांश यह कि परिवर्तन स्वाभाविक है और उसको मान्यता देनेवाले देश और काल हैं। पर उसकी प्रतिष्ठा करने के लिए, उसे विशिष्ट स्वरूप देने के लिए—महापुरुषो की आवश्यकता होती है जो समाज को नवीनता देते

हैं। ठीक यही बात हिंदी-काव्य के संबंध में भी समझनी चाहिए।

प्रवृत्त्यनुसार हिंदी-कविता का काल-विभाजन

प्रेम और युद्ध का जो गान हिंदी ने अपनी शैशवावस्था में गाया, वह उसकी किशोरावस्था में नीरस हो गया। जनता की परिस्थिति और रुचि के परिवर्तन के साथ ही हिंदी ने भी अपनी रागिनी बदल दी। इसलिए प्रतापी 'सूर' लोक-रंजनकारी 'शशि' हो गया। उससे जो सागर उमड़ा उसने पीड़ित, श्रमित और जर्जर जनता के मन की सारी मलिनता और विरूपता, हृदय की सारी निष्क्रियता और कुरूपता धोकर बहा दी और उसमे "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" का पाठ पढ़ाने वाले मुरारि के स्थान मे लोक-रंजनकारी लीलापुरुषोत्तम श्याम की सुंदर मूर्ति की स्थापना कर उसे परम ज्योति से जगमगा दिया। युद्धोत्साह की उमग के शांत होने पर जो खिन्नता, उदासी और अकर्मण्यता फैल रही थी वह हटी और भगवान् का आनंदमय स्वरूप सामने लाया गया। इसके साथ ही तुलसी का मानस उमड़ा। उसने सूर—सागर को भी मात कर दिया। राजा-रंक, गृहस्थ-विरक्त, साधक-सिद्ध, पंडित-मूर्ख सभी ने उसमे गोते लगाए और उन सबको मनमाना फल मिला। आज भारत दरिद्र है, पर उस मानस की मुक्ताओ से वह धनी बना हुआ है। सबका पानी चला गया है, पर उन मोतियों के पानिप में किसी प्रकार अंतर नहीं पड़ा है। संकट के समय मे मोतियो की रक्षा जनता ने और जनता की रक्षा उन्होने की। तब से राम हमारे

काम के हो गए और सदा सुख-दुःख में हमारे साथ रहते दिखाई देते है ।

हिंदी-कविता ने अपने तीसरेपन मे फिर रंग बदला । अपनी कविताओ को लक्षण-ग्रंथो के भीतर रखकर दिखाने की प्रवृत्ति हुई । साथ ही शृंगार-रस का ऐसा प्रवाह आया जिसमे सभी हिंदी-भाषा-भाषी बह चले। भूषण ऐसे दो एक कवियो ने उन्हे उससे निकालने का प्रयत्न भी किया। किंतु रस-मग्नो मे से किसी ने अपना हाथ नही बढ़ाया । बढ़ाते भी कैसे ? भूषण ही के पैर न जमे थे, वे दूसरो की सहायता क्या करते ? समाज की प्रवृत्तियो का रंग उन पर भी अच्छी तरह चढ़ा हुआ था, उसके घेरे के बाहर वे भी नहीं हो सके थे। शृंगार का पिंड छोड़ कर भी वे रीतिग्रन्थ लिखने के लोभ का संवरण न कर सके थे। अस्तु, भूषण का अनुसरण नही हुआ; कवि-समाज ज्यो का त्यो बना रहा। वह शृंगार रस की तंग नालियो मे ही डूबता उतराता रहा । अलंकारो के आग्रह का परिणाम यह हुआ कि काव्य का स्वरूप बहुत कुछ विकृत हो गया, साधन साध्य बन गया, कलाबाजी ने राग-तत्त्व को मार भगाया । दूसरे शब्दों में कह सकते है कि बहुतों की कविता निर्जीव हो गई। साहित्य के दूसरे अवयवो की उस समय चर्चा ही न थी। नाट्यकला का अंत तो ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी मे,ही हो चुका था । गद्य का रूप स्थिर न होने के कारण उपन्यास आदि का लिखा जाना दूर की बात थी, इतिहास आदि गद्यग्रंथ तो संभवतः स्वप्न की वस्तुएँ

थीं। जब विचार ही में स्थिरता आ गई थी तो नई-नई उद्भावनाएँ कैसे आती ? जब समाज मे उत्साह और उमंग ही नहीं थी तो साहित्य के दूसरे अवयवों की पूर्ति कहाँ से होती ?

साहित्य की ऐसी ही शोचनीय परिस्थिति मे भारतेंदु का उदय हुआ जिसकी शुभ्र ज्योत्स्ना मे हिंदी-साहित्य का स्वरूप निखर गया। उसके अमृत-वर्षण से साहित्य सजीव हो उठा। कविता-कामिनी चमक उठी। यह हिंदी की चौथी अवस्था है। इस काल को हम वर्तमान काल और इस समय की कविता को नवीन कविता कहते हैं। इसी कविता का विवेचन कर इसका पूर्व कविता से सामंजस्य स्थापित करना और परिवर्तन के स्वरूप का स्पष्टीकरण करना प्रस्तुत पुस्तक का विषय है।

आधुनिक काल का विभाजन

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के समय से लेकर आज तक की कविता का यदि हम सिंहावलोकन करे तो हमें तीन बातें स्पष्ट दिखाई देंगीः—

१—प्रारंभ मे प्राचीन विषयो के साथ नवीन का संचार।

२—समन्वय शृंखला को लिए हुए प्राचीनता का ह्रास और नवीनता की प्रचुरता।

३—विषय और पद्धति दोनो मे नवीन और प्राचीन की अधिक स्पष्टता तथा रूढ़ियो के त्याग और स्वच्छंदता की लालसा।

भारतेंदु बाबू एक ओर तो समझाते हैं* "यहि पाखै पतिव्रत ताखैं धरो" और दूसरी ओर "हा हा भारत-दुर्दशा न देखी जाई" का रोना रोकर समाज को नए धर्म की शिक्षा देते हैं। प्रतापनारायण जी भी एक ओर तो—

"बनि बैठी है मान की मूरति सी मुख खोलत बोलत 'नाहीं' न 'हाँ'।
तुम ही मनुहार कै हारि परे, सखियान की कौन चलाई तहाँ।
बरसा है प्रताप जू धीर धरो अब लौं मन को समझाओ जहाँ।
यह ब्यारि तभी बदलैगी कछू पपिहा जब पूछिहै 'पीव कहाँ'।"

का पुराना राग छेड़ कर अपने पुराने भाइयों को रस-मग्न करते हैं और दूसरी ओर नवयुवकों को—

"चाहहु जो साँचो कल्यान,
तो सब मिलि भारत संतान।
जपो निरंतर एक जबान,
हिंदी हिंदू हिंदुस्तान।"

का नया मंत्र देकर उनमें उत्साह भरते और नया पथ दिखलाते हैं। इस प्रकार इस समय एक ही कवि मे प्राचीनता और नवीनता दोनों पाई जाती हैं; पर अलग-अलग। इसके अनंतर समन्वय-

---

* यह सावन सोक-नसावन है मनभावन यामे न लाजै भरो।
जमुना पै चलौ सु सबै मिलि कै अरु गाइ बजाइ कै सोक हरो।
इमि भाषत है 'हरिचंद' प्रिया अहो लाडिलि देर न या मे करो।
बलि झूलो झुलाओ झुको उझको यहि पाखैं पतिव्रत ताखे धरो।

श्रृंखला को लिए हुए प्राचीनता का ह्रास और नवीनता की प्रचुरता दिखाई पड़ती है। पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रियप्रवास' में समन्वय की यह प्रवृत्ति अच्छे प्रकार से लक्षित होती है। विषय पुराना होते हुए भी उसके कृष्ण आधुनिकता लिए हुए हैं। इधर मैथलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' मे विषय नवीन है, पर अभिव्यंजना का कोई नया विधान नही दिखाई देता। आगे चलकर प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी वर्मा इत्यादि मे प्राचीनता भी नवीनता से रँगी हुई है, उनमे नवीनता की ही प्रचुरता मिलती है। अब प्राचीन और नवीन का अंतर बहुत अधिक और स्पष्ट हो गया है। रत्नाकर, वियोगी हरि इत्यादि प्राचीन परिपाटी के जो कवि इधर रहे है या है उनकी कविता से नवीन कविता बहुत दूर दिखाई देगी। वियोगी हरि विरहिणी गोपिकाओ और देश-सेविकाओ को वीरो में गिनकर भी नए कैंड़े के कवि न हो सके। यह ठीक है कि समन्वय-बुद्धि दोनों प्रकार के कवियों में मिलती है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। यदि समन्वय का अभाव होता तो नवीनता आकाश से टूटी हुई कोई अलौकिक वस्तु बन जाती, परिवर्तन की धारा छिन्न-भिन्न दिखाई पड़ती और विकासवाद के सिद्धांत का नाम ही नाम रहता। समन्वय-श्रृंखला ही उसे लौकिक बना सकी है। यहाँ पर एक बात और ध्यान देने की है। खड़ी बोली के आरंभिक काल में भाव-व्यंजना की पूर्ण क्षमता उसमें न थी, अतः उस समय लोगो का ध्यान भाषा की ओर विशेष था—भाव-व्यंजना और

काव्योचित उद्भावनाओ की ओर कम। अतएव इस काल मे जो रचना हुई, वह इतिवृत्तात्मक ही रही। इससे ऊब कर नई रंगत के कवियों की प्रवृत्ति बदली और उनमे अधिक मूर्तिमत्ता (कांक्रीट इमैजरी) कल्पना की उड़ान, भावो की स्वच्छद तथा वेगवती व्यंजना और प्रणाली के वैचित्र्य की आकांक्षा बढ़ने लगी। इस आकांक्षा की पूर्ति के दो उपाय थे-(१) काव्य की पुरानी रूढ़ि की ओर बढ़ना और प्राचीन कवियो के ढंग पर अलंकार और वैचित्र्य लाना अथवा (२) दूसरी भाषाओ के साहित्य की विशेषताओ का निरीक्षण कर कोई नया मार्ग निकालना। द्विवेदी जी के प्रभाव से उत्पन्न रचनाओ की इतिवृत्तात्मकता से ऊबे हुए नये कवियो ने दूसरा मार्ग ग्रहण किया। फल यह हुआ कि कविता में अभिव्यंजना की प्रधानता हो गई। इसके कारण लाक्षणिक-वैचित्र्य की बाढ़ आने लगी, दूरारूढ़ और धुँधले साम्य के बल पर प्रतीको की योजना की जाने लगी और जन-सामान्य की भाषा से भिन्न शब्दावली प्रयुक्त होने लगी। विषय की दृष्टि से इस कविता में जीवन का कोमल और मधुर पक्ष ही ग्रहण किया गया और वह भी वैयक्तिक तथा वायवी रहा। इन सब की इतनी अतिशयता हुई कि कविता दुर्बोध हो गई और जनसाधारण की पहुँच से दूर जा पड़ी। इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। अतः उक्त कविता के प्रति असंतोष बढ़ा और एक नवीन काव्य शैली की प्रतिष्ठा होने लगी जिसमें विवरण और वस्तुमत्ता का आग्रह दिखलाई पड़ता है और भाव

के स्थान में बुद्धि को शासन देकर एक नई काव्य-संस्कृति लाई जा रही है।

इस स्थान पर इन विभिन्न प्रवृत्तियों का विवेचन अभीष्ट नहीं—यह तो आगे चल कर यथा-स्थान किया जायगा। यहाँ जो इतनी चर्चा करनी पड़ी वह केवल यह दिखलाने के लिए कि आधुनिक काल को निम्नलिखित तीन कालो मे विभक्त किया जा सकता है—

१—आदि परिवर्तन काल।

२—मध्य परिवर्तन काल।

३—वर्तमान काल।

आदि परिवर्तन काल मे कविता प्राचीन पद्धति-प्रधान रही। मध्य परिवर्तन काल मे वह इतिवृत्तात्मक हो गई है। वर्तमान काल मे उसके दो रूप मिलते है। एक मे कवियो का ध्यान अभिव्यंजना की ओर अधिक है और दूसरे मे वस्तुसत्ता की ओर है। अतः पहले को अभिव्यजना-प्रधान कह सकते हैं और दूसरे को वस्तुसत्ता-प्रधान। उन्नायकत्व की दृष्टि से पहली को भारतेन्दु-काल की, दूसरी को द्विवेदी-काल की, तीसरी को प्रसाद-काल की और चौथी को पंत अज्ञेय-काल की कहेंगे। इस विभाजन का तात्पर्य यह बतलाना भी है कि नवीन कविता का प्रारम्भ तो भारतेन्दु के समय से ही हो चला था, पर प्रसाद-काल के पूर्व नवीनता का अधिक विकास नही हुआ था। उक्त काल की कविता यद्यपि आधुनिक काल के भीतर की है तथापि मेरे

विवेचन का विषय प्रधानतया वर्तमान काल की कविता होगी जिसे प्रसाद-काल और पंत-अज्ञेय-काल की कविता के नाम से अभिहित किया गया है। पहली को छायावादी और दूसरी को प्रगतिवादी भी कहा जाता है।

काव्य के अग

कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्तमान काल की अर्थात् प्रसाद-काल की कविता और पूर्ववर्ती कविता के स्वरूपों में बड़ा अंतर है। इस परिवर्तन के स्वरूप को समझाने के लिये काव्य के अंगों का विभाजन अनिवार्य है। अतः पहले उस पर विचार कर लेना चाहिए।

हमारे चारो ओर दृश्य जगत् का प्रसार है। इसी जगत् या इसके व्यापारो को देखने से हमारे मन में कुछ विकार उत्पन्न हुआ करते हैं। ये विकार उत्पन्न होने के पश्चात् या तो पड़े-पड़े जहाँ के तहाॅ नष्ट हो जाते हैं या संस्कार रूप में बच रहते हैं। सस्कार रूप में पड़े हुए विकार ही परिस्थिति विशेष मे उद्दीप्त हो उठते हैं और वे इतनी तीव्रता से उद्दीप्त होते है कि मनुष्य के लिए उन्हें अपने मन ही तक परिमित रखना दुष्कर हो जाता है। तब मनुष्य उन मनोविकारो को समाज पर व्यक्त करना चाहता है। इसके लिए उसे प्रेषणीयता की आवश्यकता होती है। इस शक्ति को बढ़ाने—अपने कहने के ढग को प्रभावशाली तथा सुन्दर बनाने—के लिए उसे अनेक उपाय करने पड़ते

हैं। यहीं पर 'हृदय की मुक्तावस्था'※ जो दृश्य जगत् के देखने से प्राप्त होती है, कविता का स्वरूप धारण करने लगती है और मनोविकार भाव कहलाने लगते है । प्रेषणीयता का सुन्दर विधान इतना महत्वपूर्ण है कि कभी कभी आचार्य लोग मनोविकारो अथवा भावो को भूलकर प्रेषणा की पद्धति (अभिव्यंजना) को ही कविता मान बैठते हैं। इस प्रकार काव्य के दो प्रधान पक्ष हो जाते हैं—भाव और कला। पर इतने ही से काव्य का सम्यक् स्वरूप नहीं उपस्थित होता। दृश्य जगत् जो भावों का प्रवर्तक है, बच ही जाता है। अतः कविता का एक पक्ष दृश्य जगत् भी है जिसे शास्त्रीय शब्द में विभाव कहते है।⁑ सारांश यह है कि परिवर्तन के स्वरूप को समझने के लिए हमें काव्य के तीन पक्षों—

१—विभाव पक्ष

२—भाव पक्ष

और ३—कला पक्ष को लेकर चलना पड़ेगा।

※ देखिये निम्नाङ्कित पाद टिप्पणी।

⁑"भाव से अभिप्राय सवेदना के स्वरूप की व्यजना से है, विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओ या विषयो के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या सवेदना होती है।"

—काव्य मे रहस्यवाद ।

विभाव-पक्ष

कविता के सम्बन्ध में और चाहे जितना मतभेद हो, पर इसमें दो मत नहीं हो सकते कि उसका प्रधान काम है—मन को रमाना—भावों को उद्दीप्त करना। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तो इसे भावयोग बतलाया है और ज्ञानयोग तथा कर्मयोग का समकक्ष कहा है❀। इस प्रकार कविता मे भाव सबसे प्रधान ठहरता है। पर भाव उठते कैसे है और उठे हुए उद्दीप्त कैसे होते हैं ? इनका प्रकृत आधार क्या है ? क्या किसी वस्तु के बिना वे उठ सकते हैं ? उत्तर सीधा है। जब तक वस्तु का यथातथ्य

❀ (जगत् के) इन रूपो और व्यापारो के सामने जब कभी वह (मनुष्य) अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर अपने आपको बिलकुल भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते है। इस साधना को हम भाव-योग कहते है और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते है।

—दे० रस-मीमासा, पृष्ठ ७

प्रत्यक्षीकरण न होगा तब तक उसके सम्बन्ध में भाव न उद्भूत होंगे और न उद्दीप्त। अतः भाव उद्‌बोधन के लिए वस्तु का सम्यक चित्रण सबसे आवश्यक बात है। यही चित्रण कविता मे विभाव-विधान कहलाता है और भावों का प्रकृत आधार होने के कारण काव्य में मुख्य स्थान रखता है। इसके अन्तर्गत कीट, पतंग, नदी-नाले, पटपर-कछार, वृक्ष-लता, सूर्य-चन्द्र, पशु-पक्षी, सुर-नर, आकाश-पाताल कहाँ तक कहें सारा विश्व आता है। दृश्य जगत् और उसके व्यापार हमारे सामने दो रूपों मे आते हैं। कभी तो वह हमारे मनोविकारो का कारण होता है और कभी पहले से उठे हुए भावो को और भी उद्दीप्त कर देता है। उसके या उसके व्यापारो के इन दो रूपो को साहित्य-शास्त्री दो भिन्न नामों से अभिहित किया करते है। पहले को वे 'आलंबन-विभाव' और दूसरे को 'उद्दीपन-विभाव' कहा करते है। समष्टि रूप मे दृश्य जगत् शाश्वत है। इसलिए काव्य के विभाव-पक्ष के वस्तुत्व मे कोई अंतर नही पड़ा करता। किंतु प्रवृत्ति और परिस्थिति के परिवर्तन के साथ हृदय का योग कभी जगत् रूपी वस्तु के किसी रूप से हो जाता है और कभी किसी रूप से। इसलिए आलंबन के रूपो मे बराबर अन्तर पड़ा करता है। नए आलंबन भी आते रहते हैं और प्राचीनो का सर्वथा त्याग भी नहीं होता।

वर्तमान काल उक्त नियम का अपवाद नहीं हो सकता। जो आलबन प्राचीन काल में थे, प्रायः वे आज भी हैं। पर आज

की सामाजिक, राजनीतिक, सांप्रदायिक और धार्मिक परि-स्थितियाँ प्राचीनकाल से भिन्न हैं ; काव्य के आदर्श में भी अन्तर आ गया है। अतः आधुनिक काल की कविता में कुछ आलंबनो की वृद्धि हुई है।

विभाव विधान मे प्रकृति

इस दृष्टि से जब हम देखते है तब सबसे पहले हमारी दृष्टि प्रकृति-चित्रण की ओर जाती है जो आधुनिक काल की कविता की प्रमुख विशेषताओं मे से है। छाया-वादी कविता में प्रकृति-प्रेम इतना बढ़ा हुआ दिखलाई पड़ता है कि वह कवियोका अनुरंजन भर ही नहीं करती वरन् उसके लिए वह सजीव हो उठती है और चैतन्य ज्योति की झलक दिखलाने लगती है। वर्षाकाल में आकाश बादलो से आच्छादित है। वे गरजते हैं। मोर नाचते हैं। दामिनी दमक कर बादलो में लीन हो जाती है। इतने ही मे वे भूमि के पास पहुँचकर झड़ी लगा देते है। प्रकृति का इस प्रकार का रमणीय रूप हृदय सम्पन्न प्राणियो का अनुरंजन सदा से करता आया है। कविगण उससे उपदेश भी ग्रहण करते आये है।* अत्र-तत्र :—

सबके हृदय मदन अभिलाषा
लता निहारि नवहि तरु साखा

---

* गोस्वामी तुलसीदास जी के वर्षा-वर्णन मे प्रकृति के ये दोनों पक्ष मिलते हैं—(१) उसका अनुरजनकारी रूप और (२) उसके प्रभाव से उत्पन्न भाव भी।

नदी उमगि अंबुधि कहँ धाई
संगम करहिं तलाब तलाई

म० तुलसीदास

के रूप मे 'मानवीकरण' भी मिल जाता है, किन्तु—

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी
रजनी तू किस कोने से
आती चूम चूम चल जाती
पढ़ी हुई किस टोने से।
किस दिगंत रेखा मे इतनी
संचित कर सिसकी सी साँस
यो समीर मिस हाँफ रही सी
चली जा रही किसके पास।
घूँघट उठा देख मुसक्याती
किसे ठिठकती सी आती,
विजन गगन में किसी भूल सी
किसको स्मृति पथ मे लाती।
पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल;
देख बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली?

देख अकिंचन जगत् लूटता
तेरी छबि भोली भाली।'
ऐसे अतुल अनंत विभव में
जाग पड़ा क्यों तीव्र विराग,
या भूली सी खोज रही कुछ
जीवन की छाती के दाग।

—कामायनी से

के समान रहस्यात्मकता से रँगे हुए चेतनसत्ता के रूप में प्रकृति-चित्रण पुरानी कविता मे ढूँढ़ने से भी न मिलेंगे। इस प्रकार छायावादी कविता मे प्रकृति की व्याप्ति असीम हो गई है। सम्भवतः यही कारण है कि वह 'नीहार', 'पल्लव', 'वनश्री', 'लहर', 'कानन-कुसुम' इत्यादि से भरी हुई है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि इस प्रकृति-प्रेम के मूल मे कवियों के हृदय का लगाव है अथवा किसी वाद का आग्रह। कहा जाता है कि छायावादी कवि प्रकृति से अपनी आत्मा का तादात्म्य पाता है। उसके लिए वह सुंदर है, सजीव है और अज्ञात-चेतन सत्ता से अनुप्राणित है। फिर यदि उससे उसके हृदय का लगाव न होता तो यह सब कैसे हो पाता? अतः छायावादी कवि के प्रकृति-प्रेम पर संदेह नहीं किया जा सकता। किंतु छायावाद में अधिकतर प्रकृति का मृदुल, मधुर और कोमल पक्ष ही देखने को मिलते हैं और उनमें भी सूक्ष्म विवरण की ऐसी प्रवृत्ति नहीं दिखलाई पड़ती है जिससे पूरा चित्र सामने आ

जाय। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि उसमें कवि की वह तल्लीनता नहीं है जिसके कारण उसका ध्यान एक-एक ब्योरे की ओर जाय। फलतः न कहीं संश्लिष्ट योजना दिखलाई पड़ती है और न उसका प्रत्यक्षीकरण हो पाता है। प्रेम की दृष्टि तो वही कही जायगी जो प्रिय के अंग-प्रत्यंग पर गड़ती है—भले ही वह अनगढ़ में भी सुघड़ता देखे। परन्तु

"वृष को तरनि तेज सहसा किरन तपै,
ज्वालन के जाल विकराल बरसत है।
तचति धरनि जग झुरत झुरनि सीरी,
छाँह को पकरि पंथी, पंछी विरमत है।
सेनापति नेक दुपहरी ढरकत होत,
घमका विषम जो न पात खरकत है।
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि कोऊ,
घरी एक बैठ कहूँ घामै बितवत है।"

के समान सूक्ष्म विवरण छायावादी कविता में नहीं मिलते। संश्लिष्ट योजना के अभाव का समर्थन यह कह कर किया जा सकता है कि छायाचित्र की ओर प्रधानतया दृष्टि होने के कारण असम्बद्धता, अस्पष्टता और अन्वितिहीनता तो छायावाद की शैली की विशेषता है। फिर उसकी प्रकृति के विरुद्ध उसमें संश्लिष्ट योजना कैसे आए? माना। पर वसंत-वैभव के बीच रसाल-मंजरी के साथ हरसिंगार के पुष्पों की वर्षा क्या है?

२

"बरसाता पथ मे हरसिंगार,
केसर से चर्चित सुमन लाज।
कंटकित रसालों पर उठता है,
पागल पिक मुझको पुकार ॥"

'पागल पिक' से सुश्री महादेवी वर्मा का चाहे जितना प्रेम हो, उसकी पुकार से वे चाहे जितना तन्मय हो जायँ, किन्तु वे रसाल के साथ हरसिंगार नही खिला सकती, वसंत और शरद् का मेल नहीं हो सकता। यह प्रयत्न तो यही माना जायगा कि उनका उनसे परिचय नहीं—साहचर्य नही—आकस्मिक भेंट है। उनकी दृष्टि ने शरद् और वसंत के वैभव की न छानबीन की है और न उसमे लीन हुई है। अतः सूक्ष्म विवरण के अभाव को शैलीगत विशेषता न मानकर यही मानना पड़ेगा कि कवि ने उस रूप में प्रकृति को देखा ही नहीं।

छायावाद में प्रकृति को प्रायः नारी का ही नाच नाचना पड़ता है। फिर उसमें प्रकृति का जो रूप मिलता है उसे सच्चा कहें या कवि की भावना से रंगा हुआ समझे। श्री निराला जी की प्रसिद्ध—

"विजन वन-वल्लरी पर
सोई थी सोहागभरी स्नेह स्वप्न मग्न
अमल कोमल तनु तरणी 'जुही की कली' "

को लीजिए और देखिए—

"वासंती निशा थी

विरह-विधुर-प्रिया संग छोड़

किसी दूर देश में था पवन जिसे कहते हैं 'मलयानिल'।"

कौन कह सकता है कि कवि की दृष्टि 'जुही की कली' और 'मलयानिल' पर है अथवा नायिका और नायक पर विशेषतया जब हम देखते हैं :—

"नायक ने चूमे कपोल
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल
इस पर भी जागी नही
चूक क्षमा माँगी नही
निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही
निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की
झोंको की झड़ियो से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली
मसल दिए गोरे कपोल गोल
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारो ओर फेर
हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हँसी-खिली
खेल रंग प्यारे संग।"

इसे हम प्रकृति-क्षेत्र कहें या नरक्षेत्र ? यह प्रकृति का व्यापार है या रति-क्रीड़ा है ? जुही और मलयानिल का यही प्रकृत व्यापार है अथवा कवि की रति-क्रीड़ा-भावना का रंग ? यह

प्रकृति के साथ तादात्म्य है या उसके साथ बलात्कार ? कवि की स्वाभाविक सहृदयता है या कलाकार की कला निपुणता ? यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि छायावाद मे प्रतीको का प्रयोग साधारण सी बात है। अतः मलयानिल, जुही की कली इत्यादि को नायक-नायिका इत्यादि का प्रतीक मानने में कोई बाधा नही है।

कुछ भी हो पर इतना स्वीकार ही करना पड़ता है कि प्रकृति का जितना सुंदर और अधिक उपयोग छायावादी कविता मे हुआ उतना पूर्ववर्ती कविता मे नही। इसकी इतनी चर्चा इसलिए करनी पड़ी कि यह छायावाद की मुख्य विशेषताओ मे से एक है और यह हिंदी कविता के लिए एक देन मानी जाती है। इसमें संदेह नही कि इसमें प्रकृति का बहुत ही सुंदर रूप निखरा, भले ही उसमे प्रकृति की प्रकृत रूप-योजना न हो पाई हो। इसका कारण यह हो सकता है कि यह काल प्रगीत-युग कहा जाता है जिसमें वस्तुओं का चित्रण उतना आवश्यक नहीं माना जाता जितना उसके प्रभाव से उत्पन्न भाव या आभास के स्वरूपों का शब्दो द्वारा व्यक्त करना। इस भाव का आश्रय स्वतः कवि होता है, काव्यगत कोई अन्य पात्र नहीं। पर ज्ञेय-पक्ष प्रधान प्राचीन कविता मे भाव का आश्रय काव्यगत कोई न कोई पात्र होता है जो प्रकृति को अपने आलम्बन विषयक भाव के अनुकूल बनाता है जिसके कारण प्रकृति उद्दीपन का कार्य करने लगती है। यही कारण है कि प्राचीन कविता में

प्रकृति आलम्बन के रूप में कम और उद्दीपन के रूप में अधिक आई है। इन दोनो रूपों मे प्रकृति कभी-कभी अलंकृत रूप में भी आती है। जैसे—

"नव उज्ज्वल जल-धार हार हीरक सी सोहति
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत"

—भारतेन्दु हरिश्चंद्र

अथवा

"कहो कौन हो दमयंती सी तुम तरु के नीचे सोई,
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या अलिनल सा निष्ठुर कोई।
पीले पत्तों की शय्या पर तुम विरक्ति सी मुर्छा सी,
विजन विपिन में कौन पड़ी हो विरह मलिन दुख विधुरा सी॥"

—पंत

कहना न होगा कि पहले उदाहरण मे कवि की रति अलंकार के बोझ से दबी नही है। पर दूसरे में वह अप्रस्तुत योजना से इतनी लद गई है कि उसमें 'मानवीकरण' के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखलाई पड़ता। छाया का स्वरूप व्यंग्य से ढूँढ़ा जा सकता है। पर उससे रूप की प्रतिष्ठा कैसे होगी? और रूप के विना भाव टिकेगा कहाँ? अस्तु विभाव के लिए व्यंग्य-विधान अनर्गल सी बात है।

अप्रस्तुत विधान के लिए कवि परम्परा प्रकृति के क्षेत्र से अपने उपमान (वस्तु और व्यापार दोनो के लिए) बराबर चुनती

चली आई है। उसे इसके लिए जितनी सामग्री इस क्षेत्र से मिली उतनी अन्यत्र से नही। पुरानी कविता मे अधिकतर उपमान रूढ़ है। पर छायावादी कवि इससे बहुत कुछ मुक्त रहते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

"ये वंकिम भ्रू युगल कुटिल कुंतल घने
नील नलिन से नेत्र-चपल मद से भरे
अरुण राग रंजित कोमल हिमखंड से—
सुन्दर गोल कपोल सुढर नासा बनी।
धवल स्मिति जैसे शरद घन बीच में—
जोकि कौमुदी से रंजित है हो रहा
चपला सी है ग्रीवा हँसी से बढ़ी
रूप जलधि में लोल लहरियाँ उठ रही
मुक्तागण हैं लिपटे कोमल कम्बु मे"

—झरना

यहाँ तक जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि प्रकृति से छायावादी कवियों के हृदय का लगाव चाहे जैसा रहा हो, पर इसमें संदेह नहीं कि उन्होने अपनी काव्य-रचना में उसका प्रयोग खुलकर किया उसे अपनी अनुभूति, से खूब रँगा और काव्य में विशिष्ट स्थान दिया। उसमे उनकी कल्पना को खेलने-कूदने तथा पनपने का अच्छा अवसर मिला जिससे बड़े मनोमुग्धकारी चित्र उपस्थित हुए। प्रगतिवाद में भावना का स्थान बुद्धि ने लिया। फलतः उसमें प्रकृति प्रगतिवादियों की बौद्धिक

धारणा को व्यक्त करने का साधन बन गई और वह ग्रामीण शोभा में समेट दी गई। देखिए—

"लाखो की अगणित संख्या में
ऊँचा गेहूँ डटा खडा है।
ताकत से मुट्ठी बाँधे है,
नोकीले भाले ताने है
हिम्मतवाली लाल फौजसा
मर मिटने को झूम रहा है !"

—केदार

उसमें कहीं कही वाद-मुक्त ग्रामीण शोभा के मनोहर चित्र भी मिलते हैं—

"एक बीते के बराबर
यह हरा ठिगना चना
बाँधे मुरैठा सीसपर
छोटे गुलाबी फूल का,
सज कर खड़ा है।
पास ही उग कर खडी हैं,
बीच में अलसी हठीली—
देह की पतली, कमर की है लचीली;
नील फूले फूल को सिर पर चढ़ा कर
कह रही है;
जो छुए यह

दूँ हृदय का दान उसको।
और,
सरसों की न पूछो!
हो गई सबसे सयानी
हाथ पीले कर लिए हैं;
ब्याह मंडप में पधारी!
फाग गाता मास फागुन
आगया हो पास जैसे
देखता हूँ मै स्वयंवर हो रहा है।"

—केदार

पंतजी की 'ग्राम्या' में भी ऐसे बहुत से चित्र उतरे हैं। पर ये उस प्रगतिवाद की प्रतिनिधि रचनाएँ नहीं कही जा सकतीं जिसमें—

"निकटतर धँसती हुई छत आड में नित
मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत ग्रीव
धैर्य धन गदहा"

सी रचनाएँ कविता कही जाती हैं। फिर वह अप्रस्तुत विधान या प्रतीक के लिए अनुपम सौंदर्य के भांडार (प्रकृति-क्षेत्र) में क्यों घुसे। उसे घृणा प्यारी है। अतः वह जोंक, पिल्ला, ढेला, लैम्प, चिमनी, फूटे बर्तन इत्यादि समेटता रहता है।

आदि सहचरी होने के नाते काव्य में प्रकृति का किसी न किसी

रूप मे ग्रहण स्वाभाविक भी है और उचित भी। यही कारण है कि कवि-परम्परा उसका त्याग कभी न कर सकी। जब हमारा जीवन एकमात्र उसी के मध्य व्यतीत होता था, तब हमारा उससे साहचर्यजन्य प्रेम था। उसका सीधा-सादा रूप ही हमें प्रिय लगता था और वही आलम्बन के रूप मे गृहीत होता था। आगे चलकर बुद्धि की क्रिया जैसे ही बढ़ती गई और ज्ञान का प्रसार होता गया वैसे ही प्रकृति के मूल में रहनेवाली किसी सत्ता की प्रतीति भी होने लगी। अतः उसके रूप-व्यापार को लेकर हम रसमग्न तो होते ही थे साथ ही उससे अनेक तथ्य और भाव भी प्राप्त करते थे। किन्तु जैसे जैसे सभ्यता का विकास होता गया और हमारे क्रिया-कलाप प्रकृति-क्षेत्र से हटकर मानव-क्षेत्र मे बढ़ता गया, वैसे वैसे प्रकृति हमसे दूर होती गई और हमारी दृष्टि मानव-क्षेत्र में बँधती गई। फलतः मानव ही काव्य का प्रधान विषय हो गया। किंतु अन्तस्संज्ञा मे बसी हुई उसकी स्मृति बनी ही हुई है जो बीच बीच मे उभड़ती रहती है। यही कारण है कि रीतिकाल के विलासी जीवन में जब कवियो की दृष्टि अधिकतर 'चन्द्रवदनी' और 'मृगनैनियो' की ओर थी तब भी सेनापति ऐसे कवि प्रकृति से पूरा नाता जोड़े हुए थे। छायावादी युग में जब कवियो को जगत और जीवन से विरक्ति सी हुई और उनकी वृत्ति अन्तर्मुखी हो गई तब प्रकृति सम्बन्धी स्मृति पूर्णतया जग उठी। इसलिए छायावाद में काव्य-दृष्टि

विभाव विधान मे नारी

बड़ी व्यापक दिखलाई पड़ती है, यह बात दूसरी है कि उसमें पूर्णता न हो। वैयक्तिक भावना के अतिशय आरोप के कारण उसमें कृत्रिमता हो, सौंदर्य के खोज के कारण वास्तविक जीवन दूर हो। पर इसमें सदेह नही कि उसका लगाव प्रकृति से है, उसके मूल मे प्रतीत होनेवाली चेतन सत्ता से है और मानव से है। मानव में केवल नारी रूप ही लिया गया है और उसका भी माध्यम अधिकतर प्रकृति है। पर उसमे जितना रूप आया है वह अनुपम है। जैसे प्रकृति वैसे ही नारी भी सदा से काव्य का विषय रही आई है। किंतु देवी, माता और कल्याणमयी का रूप कवियो को उतना प्रेय और श्रेय न हुआ जितना सौंदर्यमयी कामिनी का। कविता मे अधिकतर इसी रूप की प्रतिष्ठा हुई। रीतिकाल में तो वह वासना की प्रतिमूर्ति बना डाली गई। जो काव्य-साधना प्रारम्भ करता वह अपनी दृष्टि उसकी कटि, नितम्ब, उरोज, कटाक्ष आदि पर अवश्य गाड़ता। नारी के अग का वर्णन उस युग मे काव्य का प्रधान विषय हो गया। उसका स्थूल वर्णन कवि-कर्म माना जाने लगा। आधुनिक काल के कवियो की नारी-भावना बदली। वह लोक-सेविका तथा करुणामयी के रूप में देखी गई और उसके प्रति सहानुभूति जगाई गई। यह द्विवेदी-युग की बात है। प्रसाद-काल में वह प्रेम और विलास से रँगी गई, पर विलासी रूप न होने पाया। वह कल्पना की वस्तु हो गई। उसका एक रूप देखिए—

"नील परिधान बीच सुकुमार

खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग"

—कामायनी

पुराने कवियों ने स्त्री और पुरुष विशेषतया नारी के शरीर सौंदर्य की ओर ही ध्यान दिया था*। उसके अन्तर्जगत में जो चरम सौंदर्य छिपा है उस पर विशेष दृष्टि नही डाली थी। वे इतना ही देखकर संतुष्ट हो जाते थे कि—

"पीतरग सारी गोरे अंग मिलि गई,
श्रीफल उरोज आभा आभासे अधिक सी।
छूटी अलकनि छलकनि जलबूंदन की,
बिना बेदी बंदन बदन सोभा बिकसी।
तजि तजि कंज पुंज ऊपर मधुप गुञ्ज
गुंजरत मंजुरव बोलै बाल पिक सी।

*इस सौदर्य पर इतनी दृष्टि गाडी गई है कि उसे काम की फुलवाडी तक बनाने मे कवियो को सकोच नही हुआ वह उसके कारण भले ही खेलवाड हो गई हो:—

लाह सौ लसति नग सोहति सिंगार हार
छाया सोन जरद जुही की अति प्यारी है।
जाकी रमनीय रौस बाल है रसाल बनी
रूप माधुरी अनूप रॅभाऊ निवारी है॥
जाति है सरस सेनापति बनमाली जाहि
सीचै घन रस फूल भरी मै निहारी है।
सोभा जोबन की निधि है मृदुलता की
राजै तव नारी मानौं मदन की बारी है॥

नीवी उकसाय नेकु नैनन हँसाय
हँसि ससिमुँखी सकुचि सरोवर तैं निकसी ॥"

—देव

पर आधुनिक कवि इतने से संतोष नहीं कर सकता वह आज "आँचल में है दूध और आँखों में पानी" भी देखता है। छाया-वादी उसे देखकर बोल उठता है—

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पगतल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।"

—प्रसाद।

प्रगतिवाद की काव्य-दृष्टि बहुत ही संकुचित है। वह मानव-क्षेत्र के बाहर प्रायः जाती ही नहीं और वहाँ भी अधिकतर श्रमिक और किसान ही देख पाती है अथवा विविध यौन वृत्तियाँ—बहुत हुआ तो रूस का चक्कर लगा लिया और सामयिक सम-स्याओं तक ही जीवन की व्याप्ति मानकर उन्हें अनोखे-अनोखे छन्दों के बंद में बाँधने लगी। प्रगतिवाद का दावा है कि नारी के सम्बन्ध में उसकी बड़ी उदार भावना है। उसका कहना है—

"क्षुधा कामवश गत युग ने
पशुबल से कर जन शासित
जीवन के उपकरण सदृश
नारी भी कर ली अधिकृत
अब-मुक्त करो जीवन संगिनि को

जननि देव को आदृत
जग-जीवन में मानव के सँग
हो मानवी प्रतिष्ठित।"

पर इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के लिए जो नारी सामने लाई जाती है वह शृंगारकाल की कामिनी से २-४ हाथ आगे ही बढ़ी है। एक चित्र देखिए—

"सरकाती पट
खिसकाती लट
शरमाती झट
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युगघट
... ...
चोली से उभर उभर कसमस
खिचते सँग युग रस भरे कलश
जल छलकाती
रस बरसाती
बलखाती वह घर को जाती ,
. ...
उरु मटकाती
कटि लचकाती
चिर वर्षातप हिम की पाली"※

—पंत

※ ध्यान देने की बात यह है कि नारी के इस रूप-माधुर्य के

प्रेम ऐसी पवित्र भावना में गोपनीयता को विकृत सदाचार समझनेवाली प्रगतिवादी नारी की प्रणय-परिचर्या और उसमें उसकी प्रगल्भता भी देखिए जिसे सुनकर मतिराम बिहारी आदि की कोई भी नायिका लज्जा से सिर झुका लेगी।

आज विश्व से छीन तुम्हे प्रिय निज वक्षस्थल मे भर लूँगी।
मृदुल गोल गोरी बाहो मे, कंपित अंगों में कस लूँगी॥
फूलो के तन मे भर लूँगी, अलि से रैन निदारे बालम।'

फिर क्या आश्चर्य यदि ऐसी नारी के लिए मृत्यु रति की कामना की जाय—

"कच्चे दूध सरीखी गोरी गोरी नग्न भुजाएँ
जिनकी मोम मृदुलता
स्निग्ध गठित मांसलता
रूपसि, इनमें कसलो मुझको उर धड़कन रुक जाए"

—गुलाब

व्योरे पर उस कवि की दृष्टि उलझी है जिसने अपनी काव्य-साधना के प्रारम्भिक सोपान पर खडे होकर कहा था—

छोड़ द्रुमो की शीतल छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे अलक-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?
भूल अभी से इस जग को।

क्या पत जी प्रकृति का इतना सूक्ष्म निरीक्षण कर सके हैं जितना उक्त नारी का ?

स्वतन्त्रता-प्राप्ति का सुख भी इसके बिना नीरस और व्यर्थ है—

"हाथ-पाँव की कड़ियाँ तड़कीं
छाती से सब कीलें उखड़ीं
सूखा लोहू नस नस दौड़ा,
हृदय जिया अब ढाई सौ वर्षों के बाद,
भाई ने भाई को पाया
माओं ने पुत्रों को चूमा
उरु उरोज से पति पत्नी का
मिलन हुआ अब ढाई सौ वर्षों के बाद।"

—केदारनाथ अग्रवाल

यह तो हुई रूप-माधुर्य और निर्लज्ज प्रेम व्यापार की चर्चा। पर पूरा चित्र तब तक न उतरेगा जब तक उसकी विवशता भी सामने न आ जाय। अच्छा तो, यदि आँखें खुली रख सकें तो उसे भी देख लीजिए—

"जब मैकू का कुछ नशा घटा
वह चला गया घर से बाहर
रह गई अकेली वह आधा-
शिशु बाहर था आधा अंदर"

—अंचल

विभाव-विधान सबसे महत्वपूर्ण और बड़ा कवि-कर्म है क्योंकि भाव-प्रवणता वस्तु या व्यापार के बिम्ब ग्रहण पर ही

निर्भर होती है। पर बिम्ब ग्रहण कवि उसी वस्तु या व्यापार का करा सकता है जिसमें उसका मन कुछ समय के लिए रमता है और उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म अंग या उपकरण को देखता है। यदि यह ठीक है तो अंचल जी की प्रगल्भ दृष्टि पर संदेह नहीं किया जा सकता। यह दूसरी बात है कि नारी का यह रूप किसी स्वस्थ मन का आलम्बन बने या न बने और आश्रय से तादात्म्य हो या न हो। छायावाद की अमूर्त नारी यह शरीर पाकर अपने को धन्य समझे या न समझे।

यहाँ हमे काव्य के प्रभाव पर विचार करना अभीष्ट नही। यहाँ तो केवल यह दिखलाना था कि समष्टि रूप मे दृश्य जगत शाश्वत है। इसलिए काव्य के विभाव-पक्ष के वस्तुत्व मे कोई अंतर नहीं पड़ा करता। किंतु प्रवृत्ति और परिस्थिति के परिवर्तन के साथ हृदय का योग कभी जगत रूपी वस्तु के किसी रूप से हो जाता है और कभी किसी रूप मे। इसलिए आलम्बन के रूपो में बराबर अंतर पड़ा करता है। नए आलम्बन भी आते रहते है और प्राचीनो का सर्वथा त्याग भी नहीं होता। अस्तु विभाव-क्षेत्र की इतनी चर्चा के उपरांत अब देखना चाहिए कि प्राचीन तथा नवीन कविता के आलम्बनों मे कहाँ, कितना और कैसा अंतर आया है।

हमारे रतिभाव के आलंबन लौकिक और अलौकिक दोनों होते आए हैं। अलौकिक से मतलब उन आलंबनो से है जिन

रतिभाव के प्राचीन और नवीन आलबन

पर या तो ईश्वरत्व का आरोप किया गया है अथवा जिनका संबंध लोकातर से है। कितु कवि लोग उन्हे अलौकिक नही रख सकते। निर्गुणवादी कवियो तक ने काव्य-क्षेत्र मे उन्हे लौकिक ही बना डाला। यही कारण है कि कबीर को 'राम की बहुरिया' बनना पड़ा जिसके कारण 'सेजिया' सम्हालना भी आवश्यक हो गया। जहॉ उन्होने ऐसा नहीं किया है, वह शुद्ध काव्य के अंतर्गत आ सकता है, इसमें संदेह है। सूफी कवियो की रति भी अलौकिक के ही प्रति थी, पर काव्य-क्षेत्र मे वह अलौकिक सत्ता लौकिक हो गई। सूरदास को "अविगत गति कछु कहत न आवै" के कारण 'सगुण लीला पद' गाना पड़ा। उनके आलंबन कृष्ण और राधा इसी जगत् क्या भारत के ही प्राणी है। "कीन्हे प्राकृत-जन-गुन-गाना, सिरु धुनि गिरा लगति पछिताना।" का आदर्श रखने वाले तुलसी के "राम काम सतकोटि सुभग तन, दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन" काव्य-क्षेत्र में आकर लौकिक रूप मे ही दिखाई पड़ते हैं—

"अरुन-चरन - पंकज- नख - जोती।
कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥
× × ×
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा।
नाभि गँभीर जान जेहि देखा॥

भुज बिसाल भूषनजुत भूरी।
हिय हरिनख सोभा अति रूरी॥
× × ×
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई।
आनन अमित मदन-छबि छाई॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे।
नासा तिलक को बरनै पारे॥
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला।
अति प्रिय मधुर तोतरे बोला॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे।
बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥
पीत झँगुलिया तनु पहिराई।
जानु पानि बिचरनि मोहि भाई॥"

तुलसी के अनंतर जो कवि हुए उनके हृदय का योग लोकांतर सत्ता से बहुत कम हुआ। अतः उनकी कविता में लौकिक आलंबन ही अधिक आए। प्रसादकाल में प्रवृत्ति अलौकिक आलंबन रखने की हुई। यहाँ तक कि जहाँ लौकिक आलंबन रहता है वहाँ भी अलौकिक रूप में दिखाया जाता है। यही कारण है कि छायावाद में—

"दूर हँसते तारकों से रूठकर,
कंटकों की सेज पर सपने बिछा
मंद मारुत के करुण संगीत से,

सो गई मैं एक अलस गुलाब सी,
आँसुओं का ताज तब पहना गया
जो मुझे चुपचाप वह अलि कौन था ?''

—महादेवी वर्मा

आलंबन इस रूप में आता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रवृत्ति के कारण आलंबन में अस्पष्टता आ जाती है जो अलौकिक के प्रति होने के कारण खटकती नहीं है। पर अलौकिक आलंबन ही अस्पष्ट रहता हो, ऐसी बात नहीं है। लौकिक आलंबन को भी अस्पष्ट बनाने में कवि कर्म समझा जाने लगा। 'आँसू' ऐसे उत्कृष्ट प्रेमकाव्य में यह अस्पष्टता बराबर बनी है। इस अस्पष्टता द्वारा स्थान स्थान पर आध्यात्मिकता या रहस्य-भावना दिखलाने का अच्छा अवसर मिल जाया करता है जिससे लौकिक आलंबनो में भी अलौकिकता की झलक आ जाया करती है। अस्तु, आजकल की रतिभाव की रचना में अलौकिक आलंबन की ही प्रचुरता रहती है। उदाहरण के लिए 'आँसू' से कुछ छंद नीचे दिए जाते हैं—

"बिजली माला पहिने फिर
मुसकाता सा आँगन मे
हाँ, कौन बरस जाता था
रसबूँद हमारे मन में ?"

इस 'कौन' के कारण निम्नलिखित छंदों में आध्यात्मिकता का आभास बहुत सुन्दर बन पड़ा है—

"गौरव था नीचे आए
प्रियतम मिलने को मेरे
मै इठला उठी, अकिंचन
देखे ज्यों स्वप्न सबेरे

× × ×

शशि मुख पर घूँघट डाले
अंचल में दीप छिपाए
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आए"

अलौकिक व्यक्तियो से जब हम लौकिक व्यक्तियो की ओर आते हैं तो हमारी दृष्टि सब से पहले तुलसीदास के "कीन्हे प्राकृत-जन-गुन-गाना, सिरु धुनि गिरा लगति पछिताना" की ओर जाती है। अलौकिक को लौकिक रूप मे दिखाना यह प्रवृत्ति तो बराबर रही है। प्रारंभिक काल को—जिसे वीरगाथा काल कहा जाता है—छोड़कर शेष कालों में हम इस प्रवृत्ति का निर्वाह पाते है। यह बात दूसरी है कि पिछले खेवे के कवियो में कहीं इस व्यापक नियम का अपवाद भले मिल जाय या आदर्श का स्वरूप विकृत हो जाय, पर अधिकांश कवियों ने लौकिक रति को लेकर भी भगवत् रति की चोली अपनी कविता को पहनाई है—

"आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई
नतु राधिका-कन्हाई-सुमिरन को बहानो है"

—दास

"रसिक रीझिहैं जानि, तौ ह्वैहै कवितौ सफल
नतरु सदा सुखदानि, श्रीराधा हरि कौ सुजस"

—द्विजदेव

यद्यपि यह अन्धपरंपरा-पालन ही है, तथापि उस समय की कविता देखने से जो लक्षित होता है उस ओर से आँख बन्द करना उचित नहीं । अस्तु, प्रसाद-काल के पहले की कविता देखने से स्पष्ट पता चलता है कि हिंदी-कविता का प्रधान विषय देवता रहे । थोड़ी-सी कविता उच्च वर्ग के मनुष्यो पर हुई, सामान्य मनुष्य कवियो की श्रद्धा या प्रेम के अधिकारी नहीं समझे गए । प्रेमाख्यानक कवियो तक ने प्रेम-कहानियो का नायक राजाओं को ही बनाया । रासो-साहित्य को यदि संदिग्ध मानकर छोड़ दें तो बेधड़क कह सकते है कि कवियो ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' मानकर निराकार अथवा साकार ब्रह्म का ही अधिकतर पल्ला पकड़ा । अनंत प्रकृति को भावो का उद्दीपन भले ही बनाया हो, पर उसे आलंबन होने का अधिकार रीति-काल के कवियो ने नहीं दिया ।

आधुनिक काल मे हिंदी पर अँगरेजी साहित्य का प्रभाव पड़ा । लेखको और कवियो का ध्यान इस बात पर गया कि प्रकृति के नाना दृश्य भी, जो हमें अपनी ओर आकर्षित करते है, काव्य के स्वतन्त्र विषय हो सकते है । इस प्रकार प्रकृति-प्रेम को भी काव्य में स्थान मिला—कुछ-कुछ वैसा ही जैसा कि संस्कृत के पुराने प्रबन्ध-काव्यो में पाया जाता है । श्रीधर पाठक, महा-

वीरप्रसाद द्विवेदी तथा और अनेक कवियों ने प्रकृति को आलंबन रखकर पद्यरचना की है। श्रीधर पाठक का 'काश्मीर-सुषमा' प्रकृति-वर्णन के लिए बहुत दिनों तक प्रसिद्ध रहा। 'छायावाद' में भी अनन्त प्रकृति की छटा का विस्तृत क्षेत्र पाया जाता है। इसमें प्रकृति की रमणीयता पर कवियो की दृष्टि स्पष्ट दिखाई देती है। यह और बात है कि बहुत से स्थलो पर प्रकृति के बहाने चैतन्य ज्योति ही देखी गई हो। पर इसमें सन्देह नही कि रति का क्षेत्र व्यापक हुआ। इन्द्रधनुष, प्रभात, चन्द्र, चाँदनी, बादल, वीचिविलास इत्यादि तक ही कविता की सीमा न रही, 'छाया' तक पहुँच गई। रोड़-ढेले तक संभवत. कविता का विषय बनने योग्य समझे गये। यह भुला दिया गया कि कविता का भी अपना विषय होता है, सब विषयो पर कविता नही हो सकती। यह व्यर्थ की बात है कि यदि कवि में प्रतिभा है तो वह सामान्य से सामान्य वस्तु को लेकर अपना कवि-हृदय दिखला सकता है। वस्तुतः बात ऐसी है कि वह अपना कला-कौशल दिखला सकता है, अपने विषय को सजा सकता है; पर वह उसे उतना सरस कदापि नहीं बना सकता। उसकी कलाबाजी की तारीफ हम कर सकते हैं, पर उसकी कृति में साधारण विषय होने के कारण वह अभाव रह जायगा जिसकी पूर्ति उसकी कला कदापि नहीं कर सकती।* उदाहरण

* "Vainly will the latter (the Poet) imagine that he has everything in his own Power, that he can make an

के लिए सुमित्रानंदन पंत की 'छाया' शीर्षक कविता ले लीजिए। इस छोटी सी कविता के लिए जितना सुन्दर और जितना अधिक अप्रस्तुत विधान लाया गया है वह सम्भवतः इस युग की समस्त रचना में ढूँढ़ने से मिलेगा। पर उसे पढ़ने के पश्चात् कोई पूछ सकता है कि इसमे अभिव्यजना के वैचित्र्य के अतिरिक्त और है क्या। कुछ भी हो पर इसमे सन्देह नहीं कि कविता का विषय व्यापक हुआ। वर्षा के बीच गोस्वामी जी ने दामिनी की दमक मात्र देखी—

"दामिनि दमकि रही घन माहीं।
खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं॥"

जायसी केवल "खड़ग-बीजु चमकै चहुँ ओरा" और "चमक बीजु, घन गरजि तरासा" तक रहे है। पर आधुनिक कविता में उसका स्वरूप बड़ा हो गया—

"ज्योतिमयी कृश कांचनवर्णी—
चंचल कौन गगन मे हो?
प्रकट और फिर अंतर्हित हो
कौन भ्रमित सी घन में हो?

---

intrinsically inferior action equally delightful with a more excellent one by his treatment of it, he may indeed compel us to admire his skill, but his work will possess, within itself, an incurable defect"

—Mathew Arnold.

क्या जादूगरनी हो कोई—
चकाचौंध फैलाती हो ?
या कि व्यथित हो, कभी तड़पती
कभी मूक बन जाती हो ?
या हो तपस्विनी बाला, या
प्रेम-विरहिणी हो विभ्रांति ?
या तुम देश-द्रोहिणी कोई
मचा रही हो ऐसी क्रान्ति ?
क्या तुम वासकसज्जा हो, जो
प्रियतम - बाट जोहती हो ?
गगन-द्वार से झाँक-झाँक कर
सबका चित्त मोहती हो,
या निशि की कालिमा देख
भयभीता हो छिप जाती हो ?
या लालची नैन वाली हो
प्रकृति देखने आती हो !
प्रकृति-प्रणयिनी, नीर प्रणयिनी
मेघ-प्रणयिनी हो तुम कौन ?
कोई हो आओ बतलाओ
सखि चमकोगी कब तक मौन ?"

—रामेश्वरी देवी 'चकोरी'

ऊपर कहा गया है कि पुराने कवियों ने अपनी रचनाओं

का विषय उच्च वर्ग के मनुष्यों को ही बनाया था, क्योंकि प्राचीन काल में साधारणीकरण❀ पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसलिए आलंबन ऐसे लिए जाते थे जो प्रत्येक सभ्य के आलबन हो सकते थे, किन्तु अब आदर्श बदल सा गया है। आजकल के कवि अपनी सहानुभूति लेकर चलते हैं। अस्तु, आधुनिक काल में कवियो की दृष्टि 'उपेक्षिताओ' की ओर भी गई। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने 'द्वापर' मे उनके उद्धार का बीड़ा उठाया। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'राग-रथी रवि' के साथ 'पथिक' को देखा। इस प्रकार सामान्य व्यक्ति भी कवियो के प्रेम, श्रद्धा, दया आदि के पात्र होने लगे। हृदय के भावों तथा और भी अमूर्त पदार्थो को मूर्तवत् और सजीव रूप मे देखने की प्रवृत्ति पहले से बहुत अधिक हुई—मुक्तको मे ही नहीं प्रबन्धो मे भी इस प्रकार की रचना होने लगी—

> "वेदने, तू भी भली बनी
> पाई मैने आज तुझी मे, अपनी चाह घनी।
> नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह हीर-कनी
> सजग रहूँ मै, साल हृदय में, ओ प्रिय विशिख-अनी!
> ठंडी होगी देह न मेरी, रहे दृगंबु - सनी,
> तू ही उष्ण उसे रक्खेगी मेरी तपनमनी

❀ काव्यगत पात्र जिस भाव का अनुभव जिस आलबन के कारण करता हो वैसा ही अनुभव उसी आलबन के साथ पाठक करे। यही साधारणीकरण है।

आ अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्टजनी !
तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचितस्तनी !
अरी वियोग-समाधि अनोखी, तू क्या ठीक ठनी
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिची-तनी
मन सा मानिक मुझे मिला है तुझमें उपल-खनी !"

पुराने कवियों ने भी अमूर्त और निर्जीव को मूर्त और सजीव रूप में रख कर कविताएँ की हैं। विरह-काव्यों में मन, हृदय और ऑख इत्यादि को खूब फटकारा गया है। पर व्यक्तिगत अनुभूति को अभिव्यंजित करने का जितना प्रयास आधुनिक कविता मे दिखाई पड़ता है उतना प्राचीन कविता में नहीं। अमूर्त्त और निर्जीव को मूर्त्त और सजीव रूप मे रखने की प्रवृत्ति प्रसाद जी की 'कामायनी' में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँची हुई दिखलाई पड़ती है। उसमे श्रद्धा ऐसी विशाल भावना को ही नहीं चिंता, आशा, लज्जा इत्यादि सूक्ष्म मनोवृत्तियों को भी बहुत ही मनोरम रूप दिया गया है। श्रद्धा की (मानस) सखी अपना परिचय देते हुए कहती है—

"चंचल किशोर सुन्दरता की
मैं करती रहती रखवाली
मैं वह हलकी सी मसलन हूँ
जो बनती कानो की लाली"

अब 'इड़ा' का रूप देखिए:—

"बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल

वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वल तम शशि खंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिए
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिए
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल
चरणों में थी गति भरी ताल"

इस काल की देश विषयक रति ने एक नया आलम्बन दिया। पुरानी कविता में अत्र-तत्र

"भलि भारत भूमि भले कुल जन्म समाज सरीर भलो लहि कै।
करषा तजि कै परुषा वरषा हिम मारुत वाम सदा सहि कै।
जो भजै भगवान सयान सोई 'तुलसी' हठ चातक ज्यों गहि कै।
नतु और सबै विष बीज बए हर हाटक काम दुहा नहि कै।"

के समान उदाहरण ढूँढ़ने से चाहे भले मिल जायँ, किन्तु राष्ट्रीय भावना की कोई परम्परा नहीं मिलेगी। वर्तमान राष्ट्रीय चेतना ने देश विषयक रति को बड़ा गाढ़ा रँग दिया और उसे ईश्वर विषयक रति के समान व्यापक बनाया। ईश्वर विषयक रति के लिए प्राचीन काल में जैसे ईश्वर का साकार रूप अपेक्षित हुआ वैसे ही वर्तमान काल में देश का मानवीकरण हुआ और हिन्दी कविता में एक नई धारा ही चल पड़ी। मानवीकरण हो जाने

पर उसकी अनेक प्रशस्तियाँ लिखी गईं और उसका विराट रूप भी सामने लाया गया—

"है तेरी कृति में विक्रांति,
भरी प्रकृति में अविचल शांति
फटक नहीं सकती है भ्रांति
आँखों में है अक्षय कांति
आत्मा में है अज अखिलेश,
मेरे भारत, मेरे देश।"

पर मन को टिकाने के लिए इस रूप में पूरा आधार न मिला। इसलिए वह इस प्रकार साकार किया गया—

"नीलाम्बर परिधान हरित पट चिर सुन्दर है।
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है॥
नदियाँ प्रेम प्रवाह सूर्य तारे मंडन है।
बंदी विविध विहंग शेषफन सिंहासन हैं॥
करते अभिषेक पयोद है बलिहारी इस वेश की।
है मातृभूमि तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।"
—मैथिलीशरण गुप्त

इसी प्रकार और भी अनेक देवी-देवताओं के रूप में भारत देखा गया और व्यापक आलम्बन के रूप में गृहीत हुआ। इसके साथ ही उसकी संस्कृति और उसका अतीत भी कवियों के राग का विषय बना।

प्रगतिवाद की रति-भावना कुछ निराली है। वह हमारे यहाँ

के अघोर पंथ के समान सुंदर-असुंदर, अच्छे-बुरे, कोमल कठोर आदि में भेद-भाव नहीं मानती। उसकी सौंदर्य-भावना परम्परागत सुन्दर वस्तुओ तक ही सीमित नही है। जिसे सर्वसामान्य भद्दा और अनगढ़ कहता है और घृणा का विषय मानता है वह भी प्रगतिवाद की रति का आलम्बन है—

"सरग था ऊपर
नीचे पाताल था
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था
दिल दिमाग भुसका खद्दर का खाल था।"

इस प्रकार के अनेक भद्दे और अनगढ़ आलम्बनो के अतिरिक्त जो कुछ सुडौल कहे जा सकते हैं उनमें से उल्लेखनीय हैं—नवसंस्कृति, कार्ल मार्क्स, लाल सेना, लोक-क्रांति का अग्रदूत इत्यादि। कहा नही जा सकता कि 'जनवाणी' के ये आलम्बन मनुष्यमात्र क्या जन की भी भावात्मक सत्ता पर भी प्रभाव डाल पा रहे है या नही। अभी ये सब कवि के भाव के आलम्बन भले हो, पर पाठक या श्रोता की कल्पना मे उपस्थित नही हो पाते। शास्त्रीय शब्दो में कह सकते है कि अभी इनमें साधारणीकरण करने की क्षमता नहीं है। जैसा कि कहा जा चुका है कि साधरणीकरण तब तक नहीं हो सकता जब तक उसका प्रकृत रूप सामने न आए और यह तभी सम्भव है जब कवि वर्ण्य विषय का विम्ब ग्रहण करा सके। पर प्रगतिवादी ऐसा करने में कहाँ तक समर्थ होता है वह नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—

"लोक क्रांति का अग्रदूत, वरबीर जनादृत
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक शासित
चिर पवित्र वह भव अन्याय घृणा से पालित
जीवन का शिल्पी; पावन श्रम से प्रक्षालित"

इस लोक-क्रांति के दूत के स्वरूप से कितने हृदय परिचित हैं ? यदि परिचय नहीं तो प्रेम कहाँ से हो ?

रति की भाँति उत्साह भी आनंदात्मक भाव है। आनंदपूर्ण साहस को ही उत्साह की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार का साहस

उत्साह के प्राचीन और नवीन आलबन

हमारे साहित्य-शास्त्रियों ने दयालुओं, धार्मिकों, दानियों और योद्धाओं में ही माना है। ये वीर भी शृंगार रस के नायकों की भाँति उच्च व्यक्ति या देव होते थे। आज के पहले देशसेवा का इतना बड़ा महत्त्व नहीं था। देश अथवा राज्य की रक्षा का भार राजाओं पर ही था जिनके लिए युद्धवीर होना अनिवार्य था। सर्वसाधारण पर देश-रक्षा का उत्तरदायित्व न था। राष्ट्रीय भावना का ह्रास हर्ष के समय से ही हो चुका था। पर बीसवीं शती में देश का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया, जिससे राष्ट्रीय भावना जग उठी। देशसेवा साहसपूर्ण कार्य समझा जाने लगा। युद्धकाव्यों में वीर रस के आलंबन योद्धा शत्रु ही हुआ करते थे। पर देशसेवारूप साहसपूर्ण कर्म में देशद्रोही या देश-पीड़क आलंबन हुए। देश के लिए लाठी खाने और जेल जाने में लोग हर्ष और गौरव मानने लगे। अतः आजकल उत्साह के

प्रकाश के लिए एक नया क्षेत्र देशसेवा का मिला। इसमें देश-सेवक उच्च वर्ग के व्यक्ति भी हो सकते हैं और निम्न कोटि के भी। कवियो या आचार्यों की इतनी स्वतंत्रता सर्वथा उचित है। पर नवीनता की झोंक मे गोपियो तक को वीर कहना अवश्य अनुचित है। यहॉ उसके अनौचित्य पर विचार करने का स्थान नहीं। आगे चलकर जहाँ उत्साह-भाव पर विचार किया जायगा वहीं इसका विवेचन करना अधिक उपयुक्त होगा। अस्तु, यहॉ इतने ही से संतोष करना चाहिए कि आधुनिक काल की वीर रस की कविता मे परिस्थिति के कारण एक प्रकार का आश्रय और बढ़ाना पड़ा जिसके कारण इस प्रकार की कविता होने लगी—

"चाह नही, मै सुरबाला के गहनों मे गूँथा जाऊँ
चाह नही, प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ
चाह नही, सम्राटो के शव पर हे हरि डाला जाऊँ
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ
मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ में देना तू फेंक
मातृभूमि पर शीश चढाने जिस पथ जावें वीर अनेक"
—माखनलाल चतुर्वेदी।

देशसेवा की इस भावना से स्त्रियाँ भी समरांगण के लिए सजाई जाने लगीं—

"अबला न रहो अब लाओ प्रबला का बल,
कामिनी न, दामिनी दिपाओ देह भर मे।
ललना की लालसा हो लुप्त देश काल देख,
छलना की छाया छाई जावे घर घर में॥

भीरुता भगा के चट चंडिका की चाल चलो,
वीरता में बढ जाओ वीरों से समर में।
श्यामा कहलाना तजो कुलकी कला के लिए,
काली बनो काढ करवाल ले लो कर में॥"

—विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

कविगण मनाने लगे—

"सुनावें तो बिजली के वाक्य, शीश भूपालों के झुक जायँ।
सृष्टि कट मरने से बच जाय, शस्त्र चाण्डालों के रुक जायँ॥
पाप के पंडे पावें दण्ड, दंभ से दुनिया भर डर जाय।
भगीरथ मन की विनती मान, स्फूर्ति की गंगा कुछ कर जाय॥
प्रेम के पालक हों या न हों, प्रणों के पूरे पालक हों।
भारती ने यों रोकर कहा, 'देश में ऐसे बालक हों'॥"

—माखनलाल चतुर्वेदी।

यहाँ यह बात ध्यान मे रखने योग्य है कि छायावादी कवियों की वृत्ति जगत और जीवन से ऊबी हुई प्रतीत होती है। अतः इसमे उत्साह के लिए अवकाश न था। पर इसके साथ लोक को लेकर जो राष्ट्रीय धारा अलग बह रही थी, उसने उत्साह भाव के लिए लोक पुरुष के रूप मे सत्याग्रही, राष्ट्र उन्नायक, देश-सेवक, आत्मबलिदानी इत्यादि अनेक प्रकृत आलम्बन दिए। उसने घोषणा की

"रजकण से ले पारिजात तक कोई रूप अगेय नही।"

—दिनकर

फलतः कृषक, श्रमिक, इत्यादि दलित वर्ग भी उत्साह का विषय बना। आगे चलकर जब इस धारा में आर्थिक वैषम्य की बाढ़ आई (हमारे कवि उत्साह और क्रोध का भेद भूल गए) और अतीत तथा राष्ट्र विलीन हो गए तब धारा का रूप भी बदल गया। वह प्रगतिवादी धारा हो गई। उसने किसानो, मजदूरो का रूप तो बदला ही साथ ही रूस, लाल सेना, सामाजिक असंगतियो इत्यादि को भी उत्साह का विषय बना डाला।

"यह इस युग मे संघर्षों का सबसे प्रबल प्रतीक है
लाल फौज ने लाल खून से आज बनाई लीक है
इस जागृति के स्वर मे जन-जन कण-कण आज शरीक है"

हास के प्राचीन और नवीन आलबन

हास के संबंध मे यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यह दरबारी भाव है। इसमें स्थायित्व नही होता। आवृत्ति से भी आनन्द मे बाधा पड़ जाती है। इसके अतिरिक्त यह आमोदप्रिय हृदय के लिए है, चिंतनशील मस्तिष्क के लिए नहीं। संभवतः यही कारण है कि हास के वाङ्मय का विकास संस्कृत-साहित्य में भी अधिक नही हुआ। आगे चल कर जिस समय हिंदी का प्रादुर्भाव हुआ देश संकट मे था। उस समय मुसलमानो से अपनी रक्षा की लगी थी। फिर कौन हँसता और कौन हँसाता। अस्तु, हास पर स्वतत्र काव्य तो बने ही नही, हास-प्रधान कविता भी न हुई। हाँ, मस्तिष्क को विराम देने के लिए कभी कभी फबतियाँ छोड़ दी जाती थी।

इसके प्रधान आलंबन घमंडी ही रहे। रामचरित-मानस में नारद को अपने 'मार-विजय' के घमंड के कारण ही हास्यास्पद बनना पड़ा है। सूरसागर मे ज्ञानमद से चूर उद्धव को गोपियो ने छकाया है। इसी प्रकार स्फुट रचनाओ मे लोभी और कंजूस भी हास के आलंबन माने गए हैं। संस्कृत-साहित्य की भाँति कभी-कभी 'पेटस्तोत्र' भी लिखे गए हैं। इतना सब होते हुए भी कहना पड़ता है कि हास में एकरूपता ही रही।

"चीटी की चलावै को मसा के मुख आप जाय
स्वास की पवन लागे कोसन भगत है।
ऐनक लगाए मरु मरु के निहारे जात
अनु परमानु की समानता खगत है
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौ बखान करौं
मेरी जान ब्रह्म को बिचारबो सुगत है
ऐसे आप दीन्हे दयाराम मनमोद करि
जाके आगे सरसों सुमेरु सो लगत है।"

उसमें अन्य आलंबन बहुत कम आए हैं। इधर देश दो प्रधान वर्गों में बँट गया—१ परिवर्तनवादी और २—सनातनवादी। इन दोनो के विचारों में बड़ा अन्तर हुआ। अतः एक दूसरे को हास्यास्पद मानने लगे। हास्य रस पर इसका बहुत सुन्दर प्रभाव पड़ा। उसके लिए अनेक आलंबन निकल आए। कोई 'जाकेट के पाकेट में वाच' देखकर हँसता है तो

कोई मियाँ-बीबी का पार्क घूमना देखकर दंग होता है। इधर लंबा टीका लगाने और मोटा जनेऊ पहनने में हँसी रोकी नहीं रुकती। कोई सुधारकों की खिल्ली उड़ाता है तो कोई कौंसिल-प्रवेश पर तानाजनी करता है। जब यह दशा है तब कांग्रेस सरकार उपहास से कैसे बचाई जाय? उस पर कसा हुआ व्यंग देखिए—

"अँगरेज करा गए ब्याह,
अब आजादी सिर्फ तुम्हारी है,
हम आजादी के आशिक हैं,
गद्दार तुम्हारी आँखों में।"

हास्य पर काव्य कैसे बने, यह प्रश्न भाव-विवेचन प्रकरण का है। यहाँ तो केवल इतना ही दिखलाना अभीष्ट है कि आधुनिक काल मे हास के आलंबन बहुत हो गए। जान में तो हुए ही, बहुत से अनजान में ऐसे भी आलम्बन आ गए है जो कवि के विषाद या रति के हैं, पर रुचि के विकृत होने के कारण उन्हें देखकर हमें हँसी आती है, जैसे—

"मटक मटक मुँह बिचकाती है पथ पर पागल
बूढे स्तन लटकाए नंगी भाग्य देवता
फूटे बर्तन सी तिरस्कृता जब मानवता"

प्राचीन काल में शोक का विषय प्रिय की मृत्यु अथवा अनिष्ट की प्राप्ति समझा जाता था। करुणा के लिए प्रियजनों

शोक के प्राचीन और नवीन आलबन

का कष्ट, निधन आदि आलंबन चले आते थे। पर आज जब देशविषयक रति का विस्तार हुआ—देश भी प्रियजन की भाँति प्यारा हो गया—तो कविगण उसके नष्ट अतीत गौरव के लिए भी आँसू बहाने लगे—

"हाय गौरव-गर्वित चित्तौर,
हो गया दिव्य कांति से हीन।
हुए थे कैसे पुरुष प्रवीण,
बने थे जो जग के सिरमौर॥"

—रामकुमार वर्मा

"सुख-दुख, शीतातप भुला कर प्राण की आराधना,
इस स्थान पर की थी अहो सर्वस्व ही की साधना।
हे सारथे ! रथ रोक दो, स्मृति का समाधिस्थान है;
हम पैर क्या, शिर से चले, तो भी न उचित विधान है।"

—जयशंकर प्रसाद।

जिस प्रकार आधुनिक कवियों को अनन्त प्रकृति के मिलने से रति की व्यंजना के लिए अनेक आलबन निकल आए उसी प्रकार करुणा के लिए देश के मिल जाने से अनेक आलंबन मिल गए। तीखी अथवा मीठी वेदना का अनुभव अतीत गौरव तक ही परिमित न रह गया वरन् देश की वर्तमान दैन्य दशा भी कविता का विषय बन गई। जैसा पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन काल मे कवितोपयोगी प्राणी उच्च वर्ग के ही लोग

माने जाते थे पर आजकल निम्न वर्ण के व्यक्तियो में भी कवियों के लिए पूरा आकर्षण है, वे भी उनकी करुणा या दया के पात्र हैं—

"मिट्टी का बेडौल एक छोटा सा घर है,
सभी ओर से जीर्ण शीर्ण अतिशय जर्जर है।
गिर न पडे यह कही यदपि मन में यह डर है,
चलना हमको किन्तु आज इसके भीतर है।"

—सियारामशरण गुप्त।

'अनाथ' के इस प्यार के देखने के पश्चात् 'निराला' जी के 'भिक्षुक' और 'विधवा' को देखिए—

"वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनो मिलकर है एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँहफटी-पुरानी झोली को फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।"

—भिक्षुक।

"उस करुणा की सरिता के मलिन पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढाकर
अति छिन्न हुए भीगे अंचल में मन को—
दुख रूखे सूखे अधर—त्रस्त चितवन को

वह दुनिया की नजरों से दूर बचाकर,
रोती है स्फुट स्वर में;
दुख सुनता है आकाश धीर,—
निश्चल समीर,
सरिता की वे लहरें भी ठहर ठहर कर।"

—विधवा।

इतना ही नहीं शुभ और सुन्दर वस्तुएँ भी प्रगतिवाद में कवियों के रोने का कारण हो रही हैं। छायावादी शरदेन्दु हासिनी (भारत माता) प्रगतिवाद मे 'ग्रामवासिनी' हो गई जिसके—

"खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल,
गंगा-यमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी
तीस कोटि संतान नग्न तन
अर्धक्षुधित, शोषित निरस्त्रजन,
मूढ़ असभ्य, अशिक्षित, निर्धन
नतमस्तक
तरु तल निवासिनी
....
राहुग्रसित
शरदेंदुहासिनी"

पर यहाँ केवल आलंबन पर बात हो रही है। अतः 'शोक' आधुनिक काल मे कितना व्यापक हो रहा है और उससे काव्य का स्वरूप कैसा बन रहा है इसका विवेचन आगे चलकर होगा।

क्रोध के प्राचीन और नवीन आलबन

विश्वमैत्री की भावना से परिपूर्ण युग में शत्रु मिले कहाँ जिनके द्वारा प्राचीन कविता की भाँति क्रोध की व्यंजना कराई जाय। जीवन के सुन्दर, कोमल और मधुर पक्ष को लेकर चलनेवाली छायावादी कविता में परुष आलम्बनो के लिए गुंजायश ही न थी। हाँ, आजकल लोग सामाजिक व्यवस्था से ऊब से रहे है। समाजवाद के प्रचारक कार्लमार्क्स के बहुत से चेले आधुनिक समाज से बहुत असन्तुष्ट हैं। वे उसको तहस-नहस कर देना चाहते हैं—ऐसा युगान्तर उपस्थित करना चाहते हैं जिसमे सब बाते नई ही नई हो। वे साधु और धर्मात्मा को समाज का सबसे बड़ा शत्रु समझते हैं। नीट्शे के इस आप्त-वचन * का पारायण करते हुए न जाने कितने नव-युवक मिलेगे। फिर यदि कवि भी सामाजिक व्यवस्था पर दाँत पीसते हुए दिखाई दें तो क्या आश्चर्य—

"माता की छाती का अमृतमय पय कालकूट हो जाए,
आँखो का पानी सूखे,—वह शोणित की घूँटे हो जाए।

---

* "O my brethren, in whom lies the greatest peril to the whole future of mankind ? Is it not in the Good and Righteous ?"

एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाए,

अंधे मूढ़ विचारों की वह—अचल-शिला विचलित हो जाए।

और दूसरी ओर कँपा देने वाला गर्जन उठ धाए,

अंतरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराए।

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाए!"

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

कोई कोई कवि 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के फेर में पड़कर विश्व-विधान में ही उलट-फेर कर देना चाहते हैं, संसार का एक पक्ष निकालकर उसे चलाना चाहते हैं। वे भूल जाते हैं कि द्वंद्व का ही दूसरा नाम संसार है। शरीर की सारी कलुषता निकाल देने के लिए एक कवि कितना विह्वल हो रहा है—

"माँ! उर में वह आग लगा दे,

जिससे मलिन वासनाएँ जल

पल में छार-छार हो जाएँ

जीवन के अरमान अपावन

जिसकी लपटों में सो जाएँ;

खो जाएँ विधियाँ वे जिनको

पाप मोल लेता इस जग में;

स्वार्थ-कलुष रह जाय न मेरे

नयन-हीन मन के नव मग में;

जो निज रोष-भरी ज्वाला से

भूतल का मल सकल भगा दे;
माँ! उर में वह आग लगा दे।"

—द्विज

आज जीवन में जितनी ही विषमताएँ बढ़ गई हैं उतनी ही क्रोध के आलम्बनो की भी वृद्धि हो गई है। पूँजीपति, जमींदार, उनके अन्याय, अत्याचार, संस्कृति, अतीत सभी तो क्रोध के विषय हो गये हैं। इनके आधिक्य से कोमल भावो के लिए मानो स्थान ही नहीं रह गया है—

"गरज रही हुंकार हो रहा घर घर हाहाकार
कौन सुनेगा यहाँ हमारी वीणा की झंकार"

—नरेन्द्र

अन्य रसों की कविता का प्रायः अभाव सा ही है। अद्भुत पर थोड़ी बहुत कविता हो जाती है। उसके लिए पुराने समय मे कवि लोग भगवान् का विराट स्वरूप, देवताओ या वरप्राप्त वीरो के अद्भुत रूप-व्यापार आदि द्वारा चकित किया करते थे। पहाड़, निर्जन वन इत्यादि वर्तमान काल मे अधिकतर रति के विषय हो रहे है। उसी रतिभाव के द्वारा रहस्यमयी उद्भावनाएँ करके ही अद्भुत को व्यजना की जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभाव पक्ष के वस्तुत्व में कोई अंतर नही पड़ा है। हाँ, प्रवृत्ति और परि-स्थिति के कारण आलंबन के रूपो में अंतर पड़ गया है, नए

आलंबन आ गए हैं और प्राचीनों का सर्वथा त्याग भी नहीं हुआ है।

आलंबन विभाव की इतनी चर्चा हो चुकने के पश्चात् जब हम उद्दीपन विभाव पर आते हैं तब यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि उद्दीपनों में किसी प्रकार अंतर नहीं पड़ा है।

उद्दीपन विभाव

जैसे पहले वैसे ही आज भी प्राकृतिक दृश्य आलम्बन की चेष्टाएँ और मुद्राएँ, प्रकृति के व्यापार तथा बाह्य परिस्थितियाँ इत्यादि उद्दीपन का काम करती हैं। हाँ, छायावादी कविता अधिकतर अन्तर्निरूपिणी है। इसलिए कवि स्वयं आश्रय या आलम्बन होता है इसलिए उद्दीपन विधान उनके लिए अनिवार्य नही होता। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल मे कवियो की दृष्टि रस के अवयवो की पूर्ति की ओर नहीं रहती। दूसरा कारण यह है कि आलंबनो के परिवर्तित हो जाने से भावों के कारण में तात्त्विक अंतर नहीं पड़ा करता। चाहे हम किसी की पगड़ी देख कर हँसें और चाहे कोट-पतलून। पर हँसने का कारण विचित्र विशेष ही होगा। चंद्र-ज्योत्स्ना देखकर जिस प्रकार नायिका के प्रति प्रेम उमडता है उसी प्रकार प्रकृति-प्रेमी को प्रकृति के प्रति उमड़ता है। समझने के लिए दोनो के एक एक उदाहरण देकर यह प्रसंग यहीं समाप्त किया जाता है।

"सुभ सीतल मंद सुगंध समीर
कछू छल छंद सों छ्वै गए हैं

'पदमाकर' चाँदनी चंदहुँ के,
कछु औरहि दौरन च्वै गए है
मनमोहन सो बिछुरे इतही
बनि कै न अबै दिन द्वै गए हैं
सखि वे हम वे तुम वेई बने
पै कछू के कछू मन ह्वै गए हैं"

पद्माकर के इस शीतल मंद सुगंध समीर को नई कविता में देखिए—

"मंद मारुत मलय मद से निशा का मुख चूमता है
साध पहलू मे छिपाए चन्द्र मद में झूमता है"

—भट्ट

———

भाव पक्ष

कविता के विभाव पक्ष को छोड़ कर अब हम उसके उस पक्ष पर आते हैं जो सर्वप्रधान माना जाता है और जो काव्य की आत्मा कहा गया है। वह है कविता का भाव पक्ष। अतःकरण के प्रधान दो पक्ष हैं–१–मस्तिष्क और २–हृदय। पहले का कार्य है विचार और दूसरे का भावना। मनुष्य के जीवन में विचार का स्थान बहुत ऊँचा है, किंतु भावना का पद भी उससे कम नही। विचार पर भावना की विजय का प्रमाण पग पग पर मिलता है, किंतु भावना को विजित होते बहुत कम देखा जाता है। पहला नियम है, तो दूसरा अपवाद। इस अर्थ मे यदि कहना चाहे तो यहाँ तक कह सकते हैं कि भावना अंगी है और विचार अंग। मनुष्य के मनुष्यत्व का जितना संबंध भावना से है उतना विचार से नही। विचार सदा परिवर्तित होते रहते हैं। एक ही व्यक्ति के विचारों मे आकाश पाताल का अंतर पड़ जाता है, देश और काल के अनुसार अतर पड़ना ही चाहिए। किंतु यह बात भावना के संबंध में नहीं कही जा सकेगी। बड़े से बड़े दार्शनिक और साधारण से साधारण व्यक्ति, छोटे से छोटा लड़का और

कविता मे भावो और विचारो का स्थान

बूढ़े से बूढ़ा व्यक्ति भी वेदना से दुखी और आनन्द से सुखी होता है। भारत का आदर्शवादी भी अपने बच्चे को प्यार करता है और यूरोप का यथार्थवादी भी। फिर यदि भावना को नित्य और विचार को अनित्य कहें तो अनुचित न होगा। इस प्रकार भावना अपनी नित्यता के बल पर सत्य है और इसीलिए विश्वव्यापी है। पर विचार अनित्य होने के कारण असत्य है और इसीलिए एकदेशीय है। यही सत् तत्व जिसे भावना कहा गया है, कविता का विषय है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि भावना सत्य और विश्व-व्यापी है तो कविता में एकरूपता होनी चाहिए, पर ऐसा देखा नहीं जाता। इसका कारण क्या है ? उत्तर में कहा जा सकता है कि साधन-भेद से कविता के स्वरूप में अंतर पड़ जाता है। ब्रह्म सत्य है, पर वही ब्रम्ह देहरूप-उपाधि से परिच्छिन्न होने पर 'कूटस्थ', देहांतर्गत अविद्या मे प्रतिबिंबित होकर 'जीव' और माया में प्रतिबिंबित होकर 'ईश्वर' हो जाता है। इसी प्रकार देश, काल और परिस्थिति के आवरण से कविता के स्वरूप में भी भेद पड़ जाता है।

यहाँ पर एक बात और ध्यान देने की है। कवि सदा सत्य की खोज मे रहता है। कविता को उसी प्रयत्न का स्वरूप समझना चाहिए। जब तक उसे सत्य का आभास मिलता रहता है, वह उसे अपनी कला से सजाता हुआ आनंद उठाता रहता है, पर जब सत्य का पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है तब उसके प्रयत्न का

भी अंत हो जाता है, वहीं पर कविता की अबाध धारा भी रुक जाती है; कला का अंत हो जाता है। ठोस सत्य के मिल जाने पर मनुष्य उसका अंग हो जाता है, उससे आनंद नहीं उठा सकता। यही विचार का क्षेत्र है, यहीं से विज्ञान का श्रीगणेश होता है।

यह तो हुई भावना और विचार के क्षेत्रो की बात। अब थोड़ा सा विचार भावो पर कर लेना चाहिए। कविता का पक्ष-

भाव

विवेचन करने के समय कहा गया है कि साधारणतया जो मनोवेग हैं वे शास्त्रीय शब्द मे भाव कहलाते हैं। पर इससे यह न समझना चाहिए कि सभी मनोवेग भाव हैं। खाने-पीने की इच्छा होना, ताश, शतरंज खेलने के लिए जी करना मनोवेग तो है, पर उसे 'भाव' नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः मन का वही वेग भाव कहला सकता है जो आलम्बन प्रधान हो और उसमें निश्चयात्मिका बुद्धि का इतना प्रत्यक्ष योग न हो कि वेग दब जाय। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भाव की परिभाषा बतलाते हुए लिखा है—"आदिम क्षुद्र जंतुओ मे पहले सब व्यापार केवल बँधी चली आती हुई सहज प्रवृत्ति के अनुसार होते रहे फिर आगे चलकर उन्नत जंतुओ मे प्रवृत्ति के उत्तेजक विषय की प्रत्यय के रूप में धारणा भी होने लगी। इस विषय प्रत्यय के साथ सुख या दुख की अनुभूति का बोध भी मिला समझना चाहिए। अतः भाव उस विशेष रूप के चित्त विकार को कहते हैं जिसके अन्तर्गत विषय

के स्वरूप की धारणा सुखात्मक या दुखात्मक अनुभूति का बोध और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर सम्बद्ध संघटित हो। संक्षेप मे, प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेग युक्त प्रवृत्ति इन तीनो के गूढ़ संश्लेष का नाम 'भाव' है।"

भाव दो प्रकार के होते है। कुछ तो ऐसे स्थिर होते हैं कि उनकी उपस्थिति में अन्य भाव भले ही आते-जाते रहें पर वे ज्यों के त्यो बने रहते हैं और कुछ अस्थिर होते है और अन्य भावो के साथ संचरण करते रहते हैं। पहले को मनोवैज्ञानिक मूल भाव तथा साहित्यिक स्थायी भाव कहते है और दूसरो को क्रमशः तद्भव तथा सचारी के नाम से अभिहित करते हैं।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि भावो की स्वतंत्र सत्ता है या उनके मूल मे भी कोई बात रहती है जिसके कारण भिन्न-भिन्न भावो का उदय होता है। इतना ही नही इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि किस मनोविकार की तीव्रता मनुष्य की किस दशा विशेष में रहती है। कौन से भाव मनुष्य के साथ आदिम काल से चले आ रहे हैं और बराबर चले जायँगे। इससे इस बात का भी पता चल जायगा कि हमारे आचार्यों ने आठ (किसी किसी के मत से नौ) भावो ही को क्यो प्रधानता दी है ? प्रथम प्रश्न पर स्थूल रूप से विचार करने से तो यही जान पड़ता है कि भावो की स्वतंत्र सत्ता है, वे ईश्वरप्रदत्त हैं। पर यदि सूक्ष्म रीति से विचार किया जाय तो पता चलेगा कि इन भावो के मूल मे भी एक बात है और वह है आत्मरक्षा एवं

सुख की इच्छा। यह इच्छा आत्मप्रयत्न तक ही नहीं रहती, सन्तानों के द्वारा भी उसको (मनुष्य को) अमर बनाने का सुख भी देना चाहती है। मनुष्य की ये दोनों इच्छाएँ—सुख चाहना और अमर हो जाना—भिन्न-भिन्न भावों को जन्म देती हैं।

काव्यगत मूल भाव

मनुष्य जब पहले पहल आँख खोलता है, तब इस जगत् को देख कर अपने जीवन के लोभ के कारण आतंक से भर जाता है। यह आतक यदि उसके हृदय में टिकाऊ हुआ तो भय का रूप धारण करता है। पर यदि साहचर्य से यह जाता रहा तो आश्चर्य नामक सुखात्मक भाव की उत्पत्ति होती है। यदि साहचर्य एवं परिचय बढ़ गया और यह निश्चय हो गया कि जिसे हम डरते है वह हानि न पहुँचाएगा, उलटा सुख ही देगा तब हमारा विस्मय जाता रहता है और हममें उसके प्रति रति का सचार होता है। शांति या सुख में बाधा देख क्रोध और करुणा का उदय होता है। ये दोनों सुख की रक्षा के लिए या अपने मार्ग की बाधा को दूर करने के लिए साहस देते हैं, जिससे हम प्रसन्न होकर अपने ऊपर या दूसरे के ऊपर आई बाधा का निवारण करने के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं। हृदय की इसी स्थिति को उत्साह कहते हैं। ध्यान देने की बात है कि उत्साह के मूल में भी भय रहता है। उस भय के हटाने में उत्साह सहायक होता है। इस उत्साह द्वारा भयावह वस्तु पर आक्रमण होता है और अपनी रक्षा होती है, यही कारण

है कि ड्रैंडरसेल युद्ध का एकमात्र कारण भय की भावना को ही मानते हैं। यदि सुखमार्ग की बाधा तुच्छ हुई तो उससे घृणा हो जाती है, पर यदि सुख की वृद्धि हुई तो हास को स्फुटित होने का अच्छा अवसर मिल जाता है।

इस प्रकार ये आठ हमारे मूल भाव हैं—(१) भय, (२) आश्चर्य, (३) रति, (४) क्रोध, (५) करुणा, (६) उत्साह, (७) घृणा और (८) हास । इन्हीं के बल पर संसार की स्थिति है। ये हमारे आदिम साथी है। मनुष्य से यदि ये निकल जायँ तो उसके पशु होने मे संदेह न रह जाय। इनका उचित विकास हो जाय तो मनुष्य देवता बन जाय। इन्ही को सदा जगाते रहना कविता का काम है। कविता मे इन्हें सबसे अधिक महत्व दिया गया है। इसके अनेक कारण है। ये ही ऐसे भाव हैं जिन्हे किसी पात्र द्वारा व्यंजित होते देख या सुन कर द्रष्टा या श्रोता भी उन्हीं भावों का अनुभव करने लगता है। राम के प्रति दशरथ को शोक करते देख या सुन कर हम भी दशरथ के शोक का सा अनुभव करने लगते हैं। यह बात अन्य भावों (संचारियों) के सम्बन्ध में नहीं होती। किसी की इर्ष्या से हमे कभी क्रोध होता है, कभी हँसी आती है या कोई अन्य भाव उत्पन्न होता है, पर इर्ष्या का संचार हमारे हृदय मे नहीं होता। शास्त्रीय शब्दों में कह सकते हैं कि उपर्युक्त आठ भाव ही ऐसे हैं जिनमें साधारणीकरण करने तथा विभाव, अनुभाव और सचारी भावो से परिपुष्ट हो कर 'रस' रूप में परिणत होने की

क्षमता है। यदि सम्यक् विभाव-विधान बन पड़ा—आलम्बन इस रूप का हुआ कि उससे मनुष्य मात्र के हृदय का योग हो सकता है तब तो रस दशा तक पहुँचने के लिए अनुभाव और संचारियो की भी अपेक्षा नही होती। इनके प्रधान होने का दूसरा कारण यह है इनमे अन्य भाव विलीन हो जाते हैं और वे चाहे सजातीय हो या विजातीय, पर वे उन्हे अपनी उपस्थिति से नष्ट नहीं कर सकते। इनमे सक्रामकता भी ऐसी होती है कि इनकी व्यंजना होने पर मात्रा में अन्तर चाहे भले आ जाय किन्तु स्वरूप मे भेद नही पड़ता। सहृदय मात्र एक ही प्रकार के भाव का अनुभव करते हैं।

रति की प्रधानता

अब हमें इस बात पर विचार कर लेना चाहिये कि काव्य में इनका क्या क्रम रहता है और कौन कितना महत्वपूर्ण है। इससे इस बात का पता चल जायगा कि नवीन कविता सभ्यता की किस सीढ़ी पर है और उसका क्या मूल्य है।

ऊपर कहा जा चुका है कि सबसे पहले बाह्य जगत् को देख कर मनुष्य के अंतर्जगत् मे भय का संचार होता है। आदिम वन्य दशा में देवता भय द्वारा ही कल्पित थे। उनसे अनिष्ट की आशंका रहती थी इससे उनकी पूजा की जाती थी। आगे चल कर भय के साथ साथ उपकार करनेवाली शक्तियों के प्रति आश्चर्यपूर्ण श्रद्धा का भाव आया जैसा कि वैदिक काल में इंद्र, वरुण, मरुत आदि देवताओं की उपासना में दोनों भाव

पाए जाते हैं। आश्चर्य मनुष्य को बाह्यार्थ की ओर आकर्षित करता है। आकर्षण का फल यह होता है कि बाह्य जगत का और अंतर्जगत् का समन्वय हो जाता है जिससे इस समय की कविता मे भावो की गंभीरता आ जाती है। यही गंभीरता कविता को अमर बनाती है। वेदो के अमरत्व का एक यह भी रहस्य है। जब वस्तुएँ अधिक परिचित हो जाती हैं, तब हमारा आश्चर्य कम होता जाता है और दूसरे भावो के लिए जगह निकलती है। आत्मरक्षण की वृत्ति से प्रेरित भय के अतिरिक्त प्रेम और घृणा का विकास होता है जिनका स्थान न्यूनतर नही कहा जा सकता। प्रेम और घृणा का मूल्य एक ही है—एक प्रवृत्यात्मक है और दूसरी निवृत्यात्मक। इस भावद्वंद्व की व्यापकता आश्चर्य से भी अधिक बढ़ जाती है। आश्चर्य की दशा मे जगत् की नाना रूपात्मकता की ओर दृष्टि डालने का उतना अवसर नहीं रहता, पर प्रेम मे जगत् का विस्तार बढ़ जाता है। जगत् में सौंदर्य की बाढ़ सी आ जाती है। कवि उन सबको समेटना चाहता है, पर जीवन की परिमिति के कारण इस अपरमित कार्य में उसे सफलता नही मिलती। उसकी इच्छा कभी संतुष्ट नही होती। इच्छा की यही अमरता प्रेम को विश्वव्यापी और अमर बना देता है। उसका प्रेम इस दृश्य जगत् की सीमा पार कर जाता है और वह पूर्ण सौंदर्य परमात्मा की ओर अग्रसर होता है। इसी से भक्ति काव्य का प्रादुर्भाव होता है। जब तक प्रेम भगवत्पक्ष में रहता है तब तक तो उसके मार्ग में किसी

प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। इसलिए उसका स्फुरण अबाध रूप से होता है। परिणाम यह होता है कि इस काल की रचना बड़ी ही उत्कृष्ट हो जाती है पर वही प्रेम जब लोक की ओर उन्मुख होता है तब धर्म या नैतिकता टाँग अड़ाने लगते हैं। पर कवि की पिपासा तभी शांत होती है जब उसे अपना लक्ष्य मिल जाता है। किन्तु धर्म या नैतिकता उसे आगे नहीं बढ़ने देती वरन् उसका स्थान स्वयं लेने लगती है। किन्तु हृदयस्थ पिपासा के शांत न होने के कारण प्रेम कभी दबता नहीं, वह अवसर पाकर फिर उमड़ पड़ता है। यही कारण है कि संसार चाहे जिस दशा में रहे पर प्रेम पर कविता होती है और अवश्य होती है। खुल्लमखुल्ला नहीं तो लुक-छिप कर प्रेम अपना काम अवश्य करता है।

हिंदी-कविता में रति का स्थान

प्रमाण के लिए बहुत भटकने की आवश्यकता नहीं। हिंदी-कविता का प्रारंभ इसी रतिभाव से ही होता है। 'बीसलदेव रासो' तो स्पष्ट प्रेमकाव्य ही है। 'पृथ्वीराज रासो' वीर रस प्रधान है पर वहाँ भी वीरता के मूल में प्रेम ही है। आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—"किसी राज्य की कन्या के रूप का संवाद पाकर दल-बल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिपक्षियों को पराजित कर उस कन्या को हर कर लाना वीरों के गौरव और अभिमान का काम माना जाता था।........जहाँ राज-

नीतिक कारणों से भी युद्ध होता था वहाँ भी उन कारणों का उल्लेख न कर कोई रूपवती स्त्री ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वीरोत्साह के मूल में प्रेम का वर्णन उस समय के कवियों का लक्ष्य रहा। यही बात अँगरेजी साहित्य के इतिहास में भी पाई जाती है। 'बैलेड' काव्य हमारे यहाँ का रासो-साहित्य है। रासो-साहित्य की लौकिक सौंदर्य-पूजा बहुत दिनों तक चली। कबीर के सुधारवाद से कवियो की दृष्टि परोक्ष सत्ता की ओर गई। फलस्वरूप अलौकिक प्रेम की वृद्धि हुई। कुछ दिनो तक यह प्रेम अमूर्त (अबस्ट्रेक्ट) के प्रति ही रहा। उसमे वासना की प्रधानता न आने पाई, यह पूर्णतया संयत रहा। पर इस प्रेम-व्यंजना से लोगो के हृदय की प्यास न बुझी। सूफी कवियो ने उस प्यास को बुझाने का प्रयत्न किया, उन्होने परोक्ष सत्ता की भक्ति में भी वासना का मेल किया और प्रेम के ऐसे आलंबन की रचना की जिसे न तो मूर्त कह सकते है और न अमूर्त अर्थात् उसमें दोनो का मेल रहा। कुतबन, जायसी इत्यादि कवियो ने लौकिक प्रेम के वर्णन द्वारा अलौकिक प्रेम की व्यंजना की। आगे चल-कर कृष्ण-भक्त कवियो ने आलंबन पर अलौकिकता का आरोप तो अवश्य किया पर उसका स्वरूप पूर्णतया लौकिक रखा। कृष्ण-काव्य को पढ़ते समय यदि हम थोड़ी देर के लिये इसको भूल जायँ कि सूर के कृष्ण लीला-पुरुषोत्तम हैं तो सूर को उच्च-कोटि का शृंगारी कवि मानने में बहुत कम आगा-पीछा करना

पड़ेगा। हाँ, तुलसी की प्रेमपद्धति इस कोटि में नही जा सकती—वह पूर्ण संयत है। साराश यह कि कृष्ण-भक्तिकाल से ही प्रेम में वासना की प्रधानता प्रारंभ हो गई जो आगे चलकर देव, बिहारी, मतिराम आदि शृंगारी कवियों में पराकाष्ठा को पहुँच गई। लोग भूल गए कि—

"और सबै हरषी हँसति, गावति भरी उछाह।
तुही बहू, बिलखी फिरति, क्यो देवर कैं ब्याह॥"

—बिहारी

कहने से देवर-भौजाई दोनो जातिच्युत कर दिये जायँगे। मतिराम भी प्रेम की झोक में भूल गए कि राधा-कृष्ण का नाम ले लेने से उनके हृदय में बसे हुए लौकिक व्यक्ति राधा-कृष्ण न हो जायँगे। यदि यह बात न होती तो उन्हें—

"ढुरिबे को गई सिगरी सखियाँ मतिराम कहैं इतने छन में।
मुसुकाय कै राधिकै कंठ लगाय छिप्यो कहूँ जाय निकुंजन में॥"

कहने का साहस न होता और न—

"राति की केलि अघाने नही दिनहूँ में लला पुनि घात लगाई।"

कह कर कामुकता का प्रचार करते।

उच्छृंखलता की पराकाष्ठा के पश्चात् परिवर्तन होना स्वाभाविक था। इस परिवर्तन ने आदर्शवाद को जन्म दिया। स्वामी दयानंद ने पुराणों की घोर निंदा की। कवियों ने नियंत्रण और सयम सीखा। जिससे प्रेम के नग्न चित्र की कौन कहे वे

कविता को अलकृत करने मे भी संकोच करने लगे। द्विवेदी-काल में यह आदर्शवाद अपनी चरम सीमा को पहुँच गया। 'भारतभारती' सी रचना उच्चकोटि का काव्य समझी जाने लगी। शृंगार का स्थान वीर ने लिया। वीरता के लिए 'वीर-पंचरत्न', 'जयद्रथ वध' इत्यादि की ही रचना नहीं हुई, 'किसान' की भी रचना की गई। राम, कृष्ण, अभिमन्यु, प्रताप इत्यादि ही तक वीरता परिमित नहीं रही, साधारण 'किसान' भी 'विक्टोरिया क्रास' पहनने का अधिकारी बनाया गया। पुस्तक-वंदना—

"मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झॉईं परै, स्याम हरित दुति होय॥"

के स्थान में इस प्रकार की रचना होने लगी—

"लोकशिक्षा के लिए अवतार था जिसने लिया,
निर्विकार निरीह होकर नर-सदृश कौतुक किया।
राम नाम ललाम जिसका सर्व-मंगल-धाम है,
प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा-समेत प्रणाम है॥"

—रंग मे भग

"बात कैसे बता सकें तेरी
है मुँहो मे पडे हुए ताले
बावले बन गए, न बोल सके
बाल की खाल खीचनेवाले"

—बोलचाल

सारांश यह कि द्विवेदी-काल में प्रेम की प्रधानता जाती रही

और आदर्शवाद के कारण दूसरे भावो की प्रधानता हुई। पर प्रेम की पिपासा जो नित्य है वह कैसे दब सकती थी ? अत प्रसाद-काल में वह पुनः जगी। पर आदर्शवाद के पड़ोस मे उसके विकसित स्वरूप की आशा न करनी चाहिए। इस काल में जो प्रेम की तीव्रता दिखाई जाती है वह प्रकृति अथवा अदृश्य जगत् की ओट से। उसमें वेदना की अधिकता रहती है। 'महादेवी' की आह, 'प्रसाद' के आॅसू, 'पत' के उच्छ्वास मे प्रेम की ही व्यंजना है। पर वह शिष्टता के परिधान से ढॅकी हुई–आदर्श का चोला पहने हुए है। इस काल की कविता मे प्रेम की इतनी व्याप्ति है, उसका इतना अधिक विवेचन हुआ है, उसके विभिन्न प्रकार के इतने स्वरूप सामने लाये गये है कि कुछ इतिहासकारो ने इसे काल-विभाजन के सम्बन्ध में प्रेम-काल तक कह डाला है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र अपने 'वाङ्मय विमर्श' मे लिखते हैं कि इस काल मे क्या गद्य क्या पद्य, शुद्ध साहित्य की सभी शाखाओ में प्रेम की ही प्रधानता दिखलाई देती है। उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता सभी प्रेमवृत्ति की ही मुख्यता से व्यंजना करते है। 'प्रेम' ऐसा व्यापक नाम लेने से इसके अन्तर्गत दाम्पत्य-प्रेम के अतिरिक्त, देशप्रेम, प्रकृतिप्रेम, संततिप्रेम, मित्रप्रेम, ईशप्रेम आदि सभी का ग्रहण हो सकता है, ससीम और असीम दोनो के प्रेम अन्तर्भूत हो जाते हैं। अस्तु वर्ण्य विषय या मनोवृत्ति का विचार करके इसे 'प्रेम-काल' कहना सुभीते का जान पड़ता है।

उपर्युक्त विवेचन से काव्य में रति (प्रेम) की प्रधानता स्पष्ट हो जाती है। इसका कारण है 'रति' का क्षेत्र सबसे अधिक व्यापक है। इसका भावन सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित, रसिक-अरसिक, बाल-वृद्ध-वनिता सब कर सकते हैं। इतना ही नही मनुष्येतर प्राणी भी इससे वंचित नही हैं। इसके अतिरिक्त रति भाव मात्र नहीं है, वह भाव-कोश है। इसके शासन के भीतर और भावो का भी न्यास होता रहता है। चित्त मे ऐसी स्थिर प्रणाली की प्रतिष्ठा हो जाती है जिसके कारण या जिसके भीतर समय समय पर कई भावो की अभिव्यक्ति हुआ करती है। प्रिय का साक्षात्कार होने पर हर्ष, वियोग होने पर विषाद, उसपर कोई विपत्ति आने से उसके खोने की शंका, उसे दुःख पहुँचाने वाले को देख क्रोध इत्यादि भावों का स्फुरण हुआ करता है। यह आलंबन भेद से अनेक रूप भी धारण किया करती है—जैसे दांपत्य रति, वात्सल्यरति, मैत्री, स्वदेश प्रेम, धर्म प्रेम इत्यादि।* इसके अतिरिक्त इसके दो पक्ष होते हैं—प्रिय के संयोग में सुखात्मक और वियोग में दुःखात्मक जो अन्य भावो मे नहीं होते। उत्साह, हास और आश्चर्य सुखात्मक हैं, शेष-करुणा, क्रोध, भय और घृणा दुःखात्मक हैं। रति मे दो पक्ष होने के कारण साहित्यशास्त्र मे वर्णित समस्त संचारियो पर इसका शासन होता है। अन्य भावो मे यह क्षमता कहाँ ? साहित्य मे यों तो सभी भावो को स्थान प्राप्त है, पर कवियो के

* देखिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'रस-मीमासा पृष्ठ १७०

राग का यदि कोई भाव विषय बन सका है तो वह है रति (प्रेम) यही एक भाव है जिसका स्तवन जैसे पुराने कवियो ने किया वैसे ही नये कवियो ने भी, भले ही भावना-भेद से दोनो के प्रेम के स्वरूप में अंतर हो। कोई कहता है—

"अति खीन मृनाल के तारहुँ ते
मद मत्त गयंद बधावनो है
सुई बेह ते द्वार सकी न तहाँ
परतीति को टाँडो लदावनो है
कवि 'बोधा' अनी घनी नेजहुँ ते
चढि तापै न चित्त डेरावनो है
यह प्रेम को पंथ कराल महा
तरवार की धार पै धावनो है"

तो कोई उसकी संस्तुति करता है—

अति सूधो सनेह को मारग है
जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं
तहाँ साँचे चलैं तजि आपुनपौ
झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं

—घनआनद

कोई उसे पापाचार बतलाता है

"प्रेम करना है पापाचार प्रेम करना है पाप विचार
जगत के दो दिन के ओ अतिथि प्रेम करना है पापाचार

....

प्रेम में इच्छा की है जीत और जीवन की भीषण हार
न करना प्रेम, न करना प्रेम, प्रेम करना है पापाचार"

—रामकुमार वर्मा

और कोई उसका इस प्रकार आनंद-स्वप्न देखता है—

"शून्य हृदय मे प्रेम जलद माला कब फिर घिर आवेगी
वर्षा इन आँखों से होगी, कब हरियाली छावेगी
रिक्त हो रहा मधु से सौरभ, सूख रहा है आतप से
सुमन कली खिलकर कब अपनी पंखड़ियाँ बिखरावेगी"

—प्रसाद

फिर रति की व्याप्ति समस्त साहित्य और कविता में क्यों न हो और उसका परिपुष्ट रूप (शृंगार) रसराज कैसे न माना जाय ? अस्तु, एक नहीं अनेक भवभूति—

"एको रस करुण एव निमित्त-भेदा-
द्भिन्न. पृथक्पृथगिवाश्रयतेः विवर्तान्-
आवर्त - बुद्बुद् - तरङ्गमयान्विकारा-
न्नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्"

चिल्लाते रहें, पर रहेगा "एकोरसः प्रणय एव निमित्त भेदात्" ही। शृंगार की रसराजता सदा से रही आई है और सम्भवतः सदा चलती चलेगी। विज्ञान जगत को परिचित कराकर हम में से आश्चर्य को निकाल सकता है, सभ्यता विश्वमैत्री कराकर क्रोध, भय और उत्साह को निर्वासित कर सकती है, वेदांत उन्नति कर हास और जुगुप्सा का नाश कर सकता है, गीता के वचन

दया को दबा सकते हैं; पर "सियाराममय सब जग" या 'प्रेमपथिक'* को देखते हुए कहना पड़ता है कि प्रेम पर भारतीय दंड-विधान की कोई धारा नहीं लग सकती।

भावों के सामान्य स्वरूपों पर विचार करने के अनन्तर अब उसके शास्त्रीय पक्ष पर आना चाहिए और इस ओर जो परिवर्तन हुआ है उस पर भी विचार करना चाहिए।

काव्यगत आलंबन दो रूपों मे मिला करते हैं—कभी तो वे किसी पात्र विशेष के भावों के आलंबन होकर पाठक अथवा श्रोता के भावों के आलंबन बनते हैं और कभी कवि के भावों के आलंबन होकर पाठक अथवा श्रोता के भावों के आलंबन होते हैं। इस प्रकार काव्यानंद मे हमारे हृदय की दो स्थितियाँ होती है। कभी तो हमारे हृदय का मेल काव्यगत आश्रय के साथ होता है और कभी कवि के हृदय के साथ। काव्यगत आश्रय जब किसी आलंबन के प्रति अपने भावों की व्यंजना करता है तब इस आलंबन के प्रति हमारे भी भाव उसी प्रकार के हो जाते हैं जिस प्रकार के आश्रय के होते हैं अर्थात् आश्रय और पाठक अथवा श्रोता का तादात्म्य हो जाता है और इस प्रकार उस पात्र विशेष का आलंबन सामान्य आलंबन हो जाता है और पाठक अपने अस्तित्व को भूल सा जाता है। शक्ति-आहत लक्ष्मण के प्रति राम के जिस शोक की व्यंजना होती है उसमें हमारे हृदय

---

* इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति मे बना रहे,
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको जाना है।
'प्रेमपथिक'—प्रसाद

का इतना योग रहता है कि वह अकेले राम का शोक नही रह जाता, हमारा भी हो जाता है, लक्ष्मण राम के भाई नही प्रतीत होते, अपने अनुज हो जाते है। हममे और राम में कोई अन्तर नही रह जाता। हृदय की इसी मुक्तावस्था को रस-दशा कहते है। इस दशा के अतिरिक्त हृदय की एक दशा और होती है वह भी रस-दशा ही है, पर निम्नकोटि की। जिस समय कैकेयी दशरथ से वरदान माँगते समय उन्हे फटकारती है उस समय भी हमें काव्यानन्द मिलता है, पर वहाँ हृदय की स्थिति भिन्न रहती है। कैकेयी के हृदय के साथ हमारे हृदय का मेल नही होता, दशरथ हमारे क्रोध के आलंबन नहीं बनते, वरन् उलटे कैकेयी ही हमारे क्रोध अथवा घृणा का विषय हो जाती है। अब प्रश्न यह उठता है कि कैकेयी केवल हमारे ही क्रोध या घृणा का आलंबन है अथवा काव्य से सम्बन्ध रखनेवाले और किसी के ? उत्तर में निधड़क कहा जा सकता है कि कैकेयी हमारे ही क्रोध अथवा घृणा की पात्री नहीं है वरन् कवि ने भी उसे इसी रूप में देखा है। इस प्रकार हमारे हृदय का मेल काव्यगत किसी आश्रय के साथ न होकर कवि के साथ होता है। हृदय की इस स्थिति को स्थूल रूप में हम भाव-दशा कह सकते है। यह दशा दुहरी होती है—आश्रय द्वारा जिस पूर्णता के साथ भाव की व्यंजना कराई जाती है कला की दृष्टि से हम उससे अनुरंजित होते हैं, दूसरी ओर भाव के क्षेत्र में हम आश्रय के प्रति एक प्रकार के क्रोध या घृणा का अनुभव करते हैं। इस प्रकार कवि अपने भावो की

व्यंजना दो रूपों में करता है—कभी किसी पात्र की भाव-व्यंजना द्वारा और कभी उसके या उसके व्यापारो के अथवा अपने भावो के विवरण द्वारा। हम पहले विधान को रस-व्यंजना और दूसरे को भाव-व्यंजना कहेगे। * रस-व्यंजना के अन्तर्गत शील-निरूपण को भी समझना चाहिए जहाँ काव्यगत किसी आश्रय के स्थायी भाव का आलम्बन व्यक्ति विशेष न होकर जाति ही हुआ करता है। यहाँ आश्रय के अन्तःप्रकृति के उद्‌घाटन की ओर जितनी दृष्टि रहती है उतनी भाव की गम्भीरता और उत्कर्ष की ओर नही। अतः यहाँ भी हृदय की स्थिति दुहरी हो जाती है। एक ओर तो आश्रय द्वारा व्यजित भाव मे हृदय लीन होता है दूसरी ओर उसकी व्यक्तिगत विशेषताओ को देखदेख कर वह चमत्कृत होता चलता है। सम्भव है इसीलिए आचार्य शुक्ल ने शील-निरूपण को रस की कुछ उतरी हुई स्थिति कहा है (दे० साधारणीकरण और शीलवैचित्र्य)। यहाँ यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि भाव के तीन रूप दिखलाई पड़ते है। शान्त और गम्भीर व्यक्ति के हृदय मे भी परिस्थिति विशेष में व्यक्ति विशेष के प्रति क्रोध का उदय हो जाता है। पर इसके

* "जहाँ विभावादिकों से व्यक्त होने वाले स्थायी भावो के उद्रेकातिशय से उत्पन्न आस्वाद होता है वहाँ रस-व्यजना होती है और जहाँ अपने अनुभावो से व्यक्त होने वाले व्यभिचारियो के उद्रेक से उत्पन्न आस्वाद होता है वहाँ भाव-व्यजना होती है।"

—काव्य-कल्पद्रुम

कारण वह क्रोधी नही कहा जा सकता। स्थिति विशेष का वह क्रोध उसकी भाव-दशा के अन्तर्गत आएगा। पर यदि वह क्रोध व्यक्ति विशेष के प्रति टिकाऊ हुआ तो वह उसकी स्थायी (रस) दशा कहलाएगी और यदि वह झिड़के बिना किसी से बात ही नही करता—जो उसके सम्पर्क में आते हैं उनमें से यदि सब नहीं तो अधिकांश उसके क्रोध के विषय बनते हैं तो वह उसके शील (चरित्र) के अन्तर्गत जायगा। इन तीनों दशाओ का भेद न रखने के कारण कभी कभी चरित्र-निरूपण के सम्बन्ध में बड़ी गड़बड़ी हुआ करती है। "मन मुसुकाहिं राम सुनि बाता" में कुछ छिद्रान्वेषी राम के शील मे दोष देखा करते है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य मे संवेदन के स्वरूपो को व्यजना दो रूपो में होत है—(१) रस-व्यंजना द्वारा और (२) भाव-व्यंजना द्वारा। यह पहले कहा जा चुका है कि भाव-व्यंजना भी रसात्मक होती है पर वैसी नही जैसी प्रबंध-काव्य की रस-व्यंजना। रस-व्यंजना मे आचार्यों ने कई अवयव गिनाए हैं*। प्राचीनकाल में पूर्ण रस के लिए इनकी पाबंदी आवश्यक समझी जाती थी, किंतु आजकल की कविता में सब अवयवों का आना आवश्यक नहीं समझा जाता। इसका कारण है। आजकल की प्रवृत्ति बाह्यार्थ निरूपिणी कविता (आब्-

रस व्यजना का प्राचीन एव नवीन विधान

* "विभानुभावव्यभिचारसयोगाद्रसनिष्पत्तिः" अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो द्वारा रस व्यक्त होता है।

जेक्टिह्व पोएट्री) की ओर विशेष नहीं है, व्यक्तिगत अनुभूति को प्रगट करने की ओर है। इसीलिए प्रबंध-काव्यो की रचना का ह्रास, जो रीतकाल से प्रारंभ हुआ था, आज चरम उत्कर्ष को पहुँच रहा है। प्रबंध-काव्य मे रस के अवयवों के लिए जैसा क्षेत्र मिला करता है वैसा मुक्तक या प्रगीतमुक्तक (लिरिकल पोएटरी) में नहीं मिलता।* फिर जब प्रबंध काव्यो की रचना ही नहीं होती, यदि होती भी है तो उनमें प्रगीत-काव्यत्व ही अधिक रहता है, तो दूर तक चलती हुई रसधारा कहाँ मिले ?† हाँ, रस की

* "मुक्तक मे प्रबध के समान रस की धारा नही रहती जिसमें कथा प्रसग की परिस्थिति मे अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय मे एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। उसमे रस के ऐसे स्निग्ध छींटे पडते है जिनसे हृदय-कलिका थोडी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा-समाजो के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमे उत्तरोत्तर अनेक दृश्यो द्वारा सघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अग का प्रदर्शन नही होता, बल्कि कोई एक मर्म-स्पर्शी खडदृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणो के लिए मंत्रमुग्ध सा हो जाता है।"

—हिंदी-साहित्य का इतिहास

† छायावादी युग के प्रबंध काव्यो मे 'साकेत' और 'कामायनी' उल्लेखनीय है किंतु इनमे भी विशेषतया 'कामायनी' मे आत्मव्यजकता (सबजेक्टिविटी) की ओर अधिक ध्यान होने के कारण कथा की ऐसी

पिचकारियाँ छूटती रहती हैं जो थोड़ी देर के लिए श्रोता अथवा पाठक को सिक्त कर दिया करती हैं। आधुनिक काल की कविता रस-व्यंजना की दृष्टि से प्राचीन काल की कविता से स्वरूप में कुछ भिन्न दिखाई पड़ती है। भिन्नता इस बात में लक्षित होती है कि आजकल कवि प्रायः स्वयं आश्रय के स्वरूप में रहा करते हैं, इससे अनुभावरूप बाह्य चेष्टाओं के विधान की आवश्यकता बहुत कम होती है। हाँ, अपने आँसू बहाने, कंपित होने आदि का उल्लेख कहीं-कहीं पाया जाता है। नाना वस्तुओं के द्वारा उद्दीपन के कथन की परिपाटी भी बहुत न्यून हो गई है। इसलिये आजकल प्रबंध-काव्यों के ढंग की रसधारा बहुत कम दिखाई देती है। किसी एक भाव की क्षणिक व्यंजना मिलती है, पर कोई रस दूर तक चलता दिखाई नहीं देता क्योंकि उसके विभिन्न अवयवों पर कवि की दृष्टि नही रहती। उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट कर देना उचित होगा। 'आँसू' एक उत्कृष्ट विरह-काव्य है, पर संबद्धभावना के अभाव मे वह नागमती, गोपियों इत्यादि के विरह-वर्णन का सा स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ता। 'आँसू' वियोग दशा की नाना

धारा नही है जिसमे पाठक डूबा हुआ दूर तक बहता चले। उनमे व्यापार योजना का वैसा आग्रह नही दिखलाई पड़ता जितना भाव-योजना का। यही बात 'कुरुक्षेत्र' मे भी मिलती है। फलतः उनमे प्रबध का उतना आनद नही मिलता, उनमे मुक्तक काव्यों की विशेषताएँ ही अधिक दिखलाई देती है।

अनुभूतियों का संग्रह सा लगता है। इसमे संदेह नही कि कई स्थलों पर दो-दो, तीन-तीन पदों तक एक ही भावना चली गई है, पर रसमग्नता के लिए इतना ही पर्याप्त नही होता। रस के आस्वादन के लिए वह रूप भी होना चाहिए जिसके प्रति भाव है और जिसे शास्त्रीय शब्द मे विभाव कहा जाता है। भावो के सच्चे व्यंजक अनुभाव होते है, पर इसका भी विधान 'आँसू' में नही है। इसके विपरीत जायसी के 'पद्मावत' मे आलम्बन,-उद्दीपन विभावो, संचारी भावो और अनुभावो का सम्यक् चित्रण हुआ है जिसके कारण जायसी के वियोग-वर्णन को पढ़कर पाठक रसधारा विशेष में बहने लगता है, अनूठी व्यंजना से चमत्कृत ही भर नहीं होता।

मुक्तको मे भी पुरानी परिपाटी के कवि रस के अवयव लाया करते थे। जो एक पद्य में सब अवयव ला दे उसकी निपुणता की प्रशंसा भो होती थी। पर जैसा पहले कहा जा चुका है आधुनिक कवियो का ध्यान अवयवों की पूर्ति की ओर नहीं रहता। कहीं यो ही सब अवयव आ गए तो आ गए, जैसे—

"अलियो से आँख बचा कर
जब कंज संकुचित होते
धुँधली संध्या प्रत्याशा
हम एक एक को रोते"

—प्रसाद

उक्त उदाहरण में धुँधली संध्या उद्दीपन है, रोना अनुभाव

है, अभिलाषा और विषाद संचारी भाव हैं। इस प्रकार यह शृंगार रस का शास्त्रीय दृष्टि से अच्छा उदाहरण है। पर इस प्रकार की रचना वर्तमान काल में बहुत ही कम मिलती है। अधिकांश कविताएं इस प्रकार की होती हैं—

"चाह नही है अब आँखो की
आँखो में है ही क्या सार
आँखें मूँद तुम्हे पाता हूँ
तम मे प्रियतम प्राणाधार"

—हरिकृष्ण प्रेमी

किंतु प्राचीन कविता लीजिए—

"बिहँसि बुलाय बिलोकि उत, प्रौढ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति पूत को, पिय-चूम्यो मुख चूमि॥"

—बिहारी

इस छोटे दोहे में रस के सब अवभव ठूसे पड़े हैं 'पिय' आलम्बन तो है ही, 'तिय' आश्रय भी है। पुलकना-पसीजना सात्विक भाव है। नायक की ओर देखना और बिहँसना कायिक अनुभाव है, हर्ष संचारी है और 'रस घूमि' में स्थायी भाव की व्यंजना है। इस प्रकार रस का सारा उपचार पूरा हो गया है, भले ही रस मे मग्न करने की वह परिस्थिति न हो जो पाठक या श्रोता की रसानुभूति में सहायक होती है—प्रत्यक्ष पुत्र के 'मुख-चुम्बन' से परोक्ष पिय के मुख-चुम्बन के आनंद को उसका हृदय भले ही न ग्रहण करे। रीतिकाल के पिछले

खेवे के कवियो में रस की उक्त प्रकार की औपचारिकता इतनी बढ़ी कि कविगण यह भूल गए कि रस की पूर्ण सिद्धि के लिए भाव-विभाव-अनुभाव का ठूसना ही पर्याप्त नहीं होता वरन् पाठक या श्रोता के सम्मुख ऐसी स्थिति लाना होता है जिसे उसका हृदय ग्रहण कर सके।

यहाँ पर इस बात का भी विचार कर लेना चाहिये कि काव्यानंद और प्रकृति से प्राप्त आनद मे भिन्नता है अथवा नहीं। रस-संप्रदाय के अनुयायी काव्यानंद को ब्रह्मानंद-सहोदर कहते हैं और इस प्रकार काव्यानुभूति को प्रत्यक्षानुभूति से अलग कर देते हैं। पर विचार करने पर इन दोनो मे कोई तात्त्विक अंतर नहीं दिखाई देता। दोनो की अनुभूति एक सी होती है। यदि ऐसा न होता तो करुण रस की कविता सुन कर लोग करुणा में इतने कभी न डूबते कि नाटक या सिनेमा के दृश्य देख कर रो पड़ें। यहाँ तक देखा गया है कि हत्याकांड का दृश्य देखकर दर्शक संज्ञा शून्य हो जाते हैं और वीर हृदय वाले अमर्ष से भर कर दाँत पीसने लगते हैं। पर आजकल के अधिकांश कवि संभवतः ऐसा नही मानते। वे अपनी काव्यानुभूति को सामान्य अनुभूति का रूप देने मे संकोच सा करते हैं। सर्वसामान्य के लिए उनकी रचनाओ के प्रायः दुर्बोध होने का एक कारण यह भी है। इस पर अधिक विचार आगे चलकर कलाप्रकरण में होगा। यहाँ पर केवल इतना ही कहना है कि काव्यानुभूति और प्रकृति-प्राप्त अनुभूति में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है।

भाव-व्यजना और रस-व्यंजना के सामान्य परिचय के अनन्तर अब उन आठो भावो पर अलग अलग विचार करना चाहिए जिनकी चर्चा पहले हो चुकी है।

सबसे पहले रतिभाव को लीजिए। प्राचीन आचार्यों ने चार प्रकार की रति को काव्योचित माना था—कांताविषयक, सखाविषयक, पुत्र विषयक और राजा या देव विषयक। राजा विषयक तथा देवविषयक रति में स्वामी-सेवक भावना रहती है जिसके कारण तुल्यानुराग के लिए अवकाश नहीं रहता—प्रेम एकांगी रहता है और प्रेमी तथा प्रिय मे तन्मयता नहीं आ सकती। पुत्र विषयक रति सहजात वृत्ति (इंसटिंक्ट) है सही, किंतु हेतुज्ञान शून्य होते हुए भी दोनों पक्षों में प्रेम समान नहीं हो पाता। सखाओ में वह प्रायः समान होता है, पर भेद-भाव के लिए फिर भी न्यूनाधिक अवकाश बना रहता है। किन्तु स्त्री-पुरुष का प्रेम जिसे कांता विषयक रति कहा गया है वह सहजात वृत्ति तो है ही साथ ही उसमें प्रेम का पूरा उत्कर्ष पाया जाता है और प्रेमी तथा प्रिय का सारा भेद मिट जाता है। प्रेमी का प्रिय मे और प्रिय का प्रेमी मे लय हो जाता है—दोनो एक हो जाते हैं।

प्राचीन कवियो ने सबसे अधिक कांताविषयक रति को अपनाया। पर भौतिकता की ओर अधिक ध्यान देने के कारण इसमें वह सौंदर्य न आ सका जो देवविषयक

रति मे आया। हिंदी-साहित्य में भक्त कवियों की वाणी में जैसा अलौकिक रस है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसका प्रधान कारण तो यह है कि इन महाकवियों की कविता में इनके हृदय का सच्चा उद्‌गार है। उसमे कृत्रिमता का चिह्न तक नहीं है। इसका कारण था। अंतः सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण प्रत्येक कला का लक्ष्य है। इस लक्ष्य को भक्त कवियो ने परम सौंदर्य के साक्षात्कार से बहुत अच्छे प्रकार से पहचान लिया था। उनकी रचना मे विषय-वासना के लिए स्थान नही था। इसके अतिरिक्त उनकी कविता मे चारो प्रकार की रति का समावेश हो गया है। तुलसी के राम ईश्वर रूप मे ही नही है बालक, युवक और राजा के रूप मे भी उनका पूर्ण विकास हुआ है। इसी प्रकार अन्य सगुणईश्वरोपासक भक्त कवियो के भी उपास्य आए हैं। और तो और कबीर इत्यादि निर्गुणवादियो में भी कांताविषयक रति की अच्छी व्यंजना मिलती है। इस प्रकार इन भक्त कवियो ने रति का कोई कोना अछूता नहीं रखा है। 'स्वांतःसुखाय' कविता करने के कारण उनकी रचनाओं से उनका हृदय झाँकता रहता है। भक्त कवियो के अमर होने के ये ही कारण हैं।

प्राचीन और नवीन कविता मे रतिभाव

रति के आलंबनो पर विचार करते समय यह दिखाया जा चुका है कि नवीन कविता में आलंबन प्रायः अज्ञात रहा करता है। आलंबन का स्वरूप स्फुट न होने के कारण छायावादी कविता में प्रेम के आदर्श का चित्रण अवश्य हुआ है, पर उससे

पूर्ण रस-परिपाक होने में बाधा पड़ी है। अज्ञात के प्रति प्रेम होने का अर्थ ही यह होता है कि प्रेमी की रति एकांगी है—

"पथ देख बिता दी रैन, मै प्रिय पहिचानी नही !
तम ने धोया नभ-पंथ सुवासित हिमजल से,
सूने आँगन में दीप जला दिए झिलमिल से;
आ प्रभात बुझा गया कौन अपरिचित जानी नहीं;
मैं प्रिय पहिचानी नहीं !

घर कनक-थाल में मेघ सुवासित पाटल सा,
कर बालारुण का कलश विहंग-रव मंगल सा,
आया प्रिय पथ से प्रात सुनाई कहानी नहीं,
मै प्रिय पहिचानी नही !

नव इन्द्रधनुष-सा चीर महावर अंजन ले,
अलि गुंजित मीलित पंकज, नूपुर रुनझुंन ले;
फिर आई मनाने साँझ मै बेसुध मानी नहीं,
मै प्रिय पहिचानी नही !

इन श्वासों से इतिहास आँकते युग बीते,
रोमों में भर भर पुलक लौटते पल रीते;
यह ढुलक रही है याद नयन से पानी नहीं !
मैं प्रिय पहिचानी नहीं !

अलि कुहरा-सा नभ विश्व मिटे बुद्‌बुद जल सा,
यह दुख का राज्य अनंत रहेगा निश्चल सा;
हूँ प्रिय की अमर सुहागिनि पथ की निशानी नही;
मैं प्रिय पहिचानी नहीं !"

—महादेवी वर्मा

आधुनिक समीक्षकों को वर्माजी के इस गान में अनिर्वचनीय रस भले ही मिले किन्तु हमारे यहाँ के आचार्यों के अनुसार इस प्रकार की प्रेम-व्यंजना रसाभास* सी लगेगी और भाव-व्यंजना के अन्तर्गत जायगी। यदि नवीन कवियो में सुमित्रानंदन पंत ऐसे दो एक कवियो को न लें तो बेधड़क कह सकते हैं कि असीम और ससीम के कुलावे मिलानेवाले तथा विरह-वेदना से जलने और क्लांत रहनेवाले कवियो की कविता में रस में लीन करनेवाली व्यंजना प्रायः होती ही नहीं। श्रृंगार रस की रसराजता आचार्यों ने इसलिए मानी थी कि उसमें सुखात्मक (संयोग श्रृंगार) और दुःखात्मक (वियोग श्रृंगार) दोनो पक्ष होते हैं इसी से उसका शासन प्रायः सब संचारियो पर रहता है। पर 'कौन' को लेकर चलनेवाले कवियो मे सुखात्मक अनुभूति की गुंजायश बहुत कम रह जाती है। वहाँ तो वेदना, टीस, उच्छ्वास इत्यादि की ही वृद्धि हो सकती है। यही कारण है कि छायावाद में आँसुओ की ऐसी बाढ़ आ गई कि ब्रज को डुबानेवाले विरहिणी गोपियो के आँसू उन कवियों के आँसुओ के सामने जल-सीकर से दिखाई पड़ते हैं। किन्तु मनुष्य सुख के बिना बहुत दिनो तक जी नहीं सकता। शायद यही कारण है कि छायावाद के अधिकतर कवि वेदना मे ही सुख

---

* "उपनायकसस्थाया मुनिगुरुपत्नीगताया च,
बहुनायकविषयाया रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्।"

ढूँढ़ने लगे और उनके प्रशंसक समीक्षक उसे अन्त सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण कहने लगे :—

"अयि अमर शान्ति की जननि जलन !
अक्षय तेरा श्रृंगार रहे,
जीवन - धन - स्मृति - सा अमिट
निरन्तर तेरा - मेरा प्यार रहे।
धधकें लपटें अन्तर - तर में,
तेरे चरणों पर शीश झुके।
तूफान उठें अंगारों के
उर प्रलय सृष्टि का स्रोत रुके
हाँ, खूब जला दे; रह न जाय
अस्तित्व; और जब वे आवें—
चरणो पर दौड़ लिपट जानेवाली
मेरी विभूति पावे"

—अनुभूति

उपर्युक्त कथन में किसी को अंतःसौन्दर्य के दर्शन हों तो भले हों, किन्तु "लागिउँ जरै जरै जस भारू। पुनि पुनि भूँजेसि तजिउँ न बारू" मे वेदना की जैसी स्वाभाविकता और सचाई है उसके सामने द्विजजी का कथन कृत्रिम दिखाई पड़ता है, चाहे उनके हृदय में प्रेम का जितना भी अधिक रस भरा हो।

आलंबन अनिश्चित होने के कारण विभावपक्ष (जगत् के गुप्त और प्रकट नाना स्वरूपों और व्यापारों) के साक्षात्कार की ओर

कवियो का ध्यान जाता ही नहीं, वे भावो की विस्तृत विवृति देने में ही लगे रहते हैं। फल यह होता है कि पाठक अनुभूति की नाना प्रणालियाँ ही सामने पाता है, उस आलंबन का स्वरूप सामने नहीं पाता जिसके प्रति वह अनुभूति होती है। अतः उस अनुभूति मे योग देने की कोई सामग्री वह अपने सामने नहीं पाता। आलंबन का कोई स्वरूप सामने रखे बिना हम इस बात की आशा दूसरे से कैसे कर सकते हैं कि वह उसके प्रति उसी भाव का अनुभव करे जिस भाव का हम कर रहे हैं। पुराने कवियो में भावो का ब्यौरा पेश करना रहा ही न हो यह बात नहीं है। इस प्रकार की कविता पुराने समय में भी थोड़ी-बहुत होती चली आई है। घनानंद का 'सुजानसागर' उदाहरण के रूप में रखा जा सकता है। पर घनानंदजी ने आलबन की प्रतिष्ठा का ऐसा बहिष्कार नहीं किया जैसा आधुनिक कवि कर रहे हैं। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायगी—

"भोर तें साँझ लौं कानन ओर निहारति बावरी नैकु न हारति।
साँझ ते भोर लौं तारनि ताकिबो, तारन सौं इक तार न टारति॥
जौ कहूँ भावतो दीठि परै, घनआनँद आँसुनि औसर गारति।
मोहन सोहन जोहन की, लगियै रहै आँखिन के मन आरति॥"

यहाँ पर नायिका के व्यापार-वर्णन द्वारा उसके प्रिय-मिलन की उत्कंठा की व्यंजना है। इस प्रकार की व्यंजना प्रसाद के 'आँसू' में, जो 'सुजानसागर' की भाँति ही विरह-काव्य है, बहुत कम मिलेगी। यही कारण है कि 'आँसू' की दुःख-गाथा पढ़ कर

प्रसादजी की अभिव्यजना पर श्रद्धा होती है और 'सुजानसागर' की वियोग-व्यथा से घनानन्द के हृदय से सहानुभूति। 'आँसू' को पढ़ते समय मुँह से निकलता है—'बहुत सुन्दर कहा है' और 'सुजानसागर' को पढ़ते समय कहना पड़ता है कि 'बहुत ठीक कहा है'। पहला कलानैपुण्य पर से होता हुआ हृदय पर प्रभाव डालता है और दूसरा सीधे हृदय को स्पर्श करता है। एक-एक उदाहरण और लीजिए—

"मकरंद - मेघ - माला सी
वह स्मृति मदमाती आती
इस हृदय-विपिन की कलिका
जिसके रस से मुसक्याती।"

—प्रसाद

"वहै मुसकानि वहै मृदु बतरानि वहै
लडकाली बानि आनि उर में अरति है।
वहै गति लैनि औ बजावनि ललित बेनु
वहै हँसि दैनि हियरा ते न टरति है॥
वहै चतुराई सो चिताई चाहिबे की छबि
वहै छैलताई न छिनक बिसरति है।
आनँद-निधान प्रान-प्रीतम सुजानजू की
सुधि सब भाँतिन सौं बेसुधि करति है॥"

—घनानद

आलंबन के अनिश्चय के कारण प्रसादजी की मेघमाला सी

उठती हुई स्मृति की झलक मात्र मिलती है, पर घनानंदजी की स्मृति का स्वरूप खड़ा हो जाता है क्योकि आलबन का स्वरूप सामने होने के कारण घनानंद की अनुभूति में योग देने की सामग्री हमारे सामने है।

छायावादी कवियो का जिस प्रकार विषय अनिश्चित होता है उसी प्रकार उनके भाव भी स्पष्ट नही हो पाते। यह हो कैसे, जब कवि रचना की पूर्णता की ओर ध्यान ही नहीं देते। रहस्य-भावना (मिस्टीसिज्म) के फेर मे पड़कर बुद्धिवाद (रैशनलिज्म) को स्थान ही नही दिया जाता। छायावाद मे अनेक ऐसी कविताएँ मिलेंगी जो केवल दो-चार चमकते हुए वाक्यो के कारण जीवित हैं। प्राचीन कवि प्रभावपूर्णता (टोटल इम्प्रेशन) की ओर इतना ध्यान रखते थे कि वे कवित्त का चौथा चरण पहले रच लिया करते थे तब शेष तीन चरणो की रचना करते थे। इसी चौथे चरण मे कवि के भाव का पूर्ण स्वरूप मिलता था। तीन चरण कविता के अग होते थे। चौथे चरण से कविता को अपना पूर्ण स्वरूप मिल जाता था। पर आलोच्य कविता मे इस अन्विति का सर्वथा अभाव सा रहता है। मुक्तक कविता में यह कुछ अंश तक क्षम्य हो सकता है, पर 'साकेत' ऐसे प्रबंध-काव्य में यह प्रवृत्ति बहुत ही खलती है। उसका नवम् सर्ग संचारियो का समुच्चय सा जो है उसके मूल में छायावाद की भावो की विस्तृत विवृत्ति देने की प्रवृत्ति का आग्रह ही मानना चाहिए।

आगे कहा जा चुका है कि छायावादी कवियो की प्रवृत्ति

अन्तःसौंदर्य के प्रत्यक्षीकरण की ओर अधिक और बाह्य सौंदर्य की ओर बहुत कम रही है। प्राचीन काल के कवि रूप-सौंदर्य, कर्मसौंदर्य और भावसौंदर्य सब को लेकर चलते थे क्योंकि उन्हें प्रभावपूर्णता अभीष्ट होती थी। पर छायावाद मे ऐसा बहुत कम दिखाई देता है। यही कारण है जिस दशा मे सूर की वियोगिनी कहती है—

"मधुबन तुम कत रहत हरे
बिरह बियोग श्यामसुंदर के ठाढ़े कत न जरे"

—सूरदास

उसी दशा में उर्मिला अपनी वाटिका से कहती है—

"रह चिरदिन तू हरी भरी,
बढ़ सुख से तू बढ़ सृष्टि-सुंदरी !
सुध प्रियतम की मिले मुझे,
फल जन-जीवन-दान का तुझे।"

—मैथिलीशरण गुप्त

सारांश यह कि प्राचीन कवि दुःख की दशा में दुःख का ही अनुभव करते थे, पर आजकल के कवि दुःख में भी और उत्कृष्ट भावो के लिए स्थान रखते हैं। केवल दुःख मे मग्न होने के कारण ही पुराने कवि प्रेम मे जलाने की शक्ति ही अधिक देखते थे—

"मुहम्मद चिनगी प्रेम कै, सुनि महि गगन डेराइ।
धनि बिरही औ धनि हिया, जहँ अस अगिन समाइ।"

—जायसी

इसी प्रकार व्रजभाषा-कवि की एक नायिका कहती है—

"जो मै यह कहुँ जानती, प्रीति किए दुख होइ ।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रीति करै जनि कोइ ॥"

पर छायावाद में वियोग का स्वरूप इतना लयकारी नहीं जान पड़ता । आजकल कलावादी कवि केवल कोमल और मधुर को पकड़ते हैं । वे प्रेमभाव की कोमल व्यंजना मे ही काव्य का उत्कर्ष मानते है और प्रायः एकांतिक प्रेम को अपनाते हैं । प्रेम को आजकल संसार के झंझटो से शांतिप्रदान करने वाली वस्तु ही अधिंकतर समझते हैं, क्योकि यही प्रेम-साधना उस-आनंद-लोक मे पहुँचाएगी—

"घने प्रेम-तरु-तले
बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले"

—प्रसाद

प्रसाद और पंत ऐसे प्रेमोपासक और सौंदर्य-दर्शक मे प्रेम का यह रूप उतना नहीं खलता क्योकि उन्होंने प्रेम की और दशाएँ भी ली है—

"पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल भूल कर चलना है ।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए ॥"

—प्रेमपथिक

"करुण है हाय ! प्रणय
नही दुरता है जहाँ दुराव;
करुणतर है वह भय ,
चाहता है जो सदा बचाव ;

—पत

पर 'परा विद्या की अपार्थिवता, कबीर का रहस्यवाद, लौकिक प्रेम की तीव्रता' इन सब को लेकर कविता करने वालो को भी जब प्रेम 'तलवार की धार पै धावनो' कही नही दिखाई देता तब आश्चर्य अवश्य होता है। आलंबन का जैसा अस्पष्ट या अव्यक्त स्वरूप छायावादी कवियो ने रखा उसके अनुसार संयोग पक्ष मे कविता करने की बहुत कम गुंजायश रह जाती है; स्मृति के रूप मे संयोग पक्ष का आभास भर मिला करता है। यह संयोग पक्ष प्राचीन कविता के संयोग पक्ष की भाँति नही रहता। पुराने कवि वियोग में ही हृदय की अंतर्दशाओ का निरूपण अधिकतर किया करते थे, पर संयोग पक्ष मे शारीरिक मांसल सौंदर्य और ऐंद्रिक शृंगारिकता पर ही अधिक ध्यान रखते थे। आधुनिक कवि जिस प्रकार वियोग की दशा मे हृदय की स्थिति दिखलाने की ओर अधिक ध्यान देते हैं उसी प्रकार मिलन में भी। सयोग का वर्णन जायसी इस प्रकार करते हैं—

"प्रथम बसंत नवल ऋतु आई।
सुऋतु चैत बैसाख सुहाई॥
× × ×
सौर सुपेती फूल न डासी।
धनि औ कंत मिले सुखबासी॥
पिउ संजोग धनि जोबन बारी।
और पुहुप सँग करहिं धमारी॥
× × ×

ऋतु पावस बरसै, पिउ पावा।
सावन भादौं अधिक सुहावा॥
पदमावति चाहति ऋतु पाई।
गगन सोहावन भूमि सोहाई॥

× × ×

आइ सरद ऋतु अधिक पियारी।
आस्विन-क्रातिक ऋतु उजियारी॥
पदमावति भइ पूनिउँ कला।
चौदसि चाँद उई सिंघला॥

× × ×

ऋतु हेमंत सँग पिएउ पियाला।
अगहन पूस सीत सुखकाला॥
धनि औ पिउ मँह सीउ सोहागा।
दुहुन्ह अंग एकै मिलि लागा॥

× × ×

आइ सिसिर ऋतु तहाँ न सीऊ।
जहाँ माघ फागुन घर पीऊ॥
सौर सुपेती मंदिर राती।
दगल चीर पहिरहि बहु भाँती॥"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि कवि की दृष्टि प्रत्येक ऋतु के अनुकूल भोग-विलास की ओर थी, रतनसेन का हृदय देखने की ओर नहीं। पर प्रसादजी हृदय देखते हैं, प्रेमी

और प्रियतम के मिलने से प्रेमी की भावना कैसी रहती है उसे बतलाते हैं—

"तुम सत्य रहे चिर सुंदर
मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन-संगी
कल्याण - कलित इस मग के
× × ×
मिल गए प्रियतम हमारे मिल गए
यह अलस जीवन सफल अब हो गया
कौन कहता है जगत है दुःखमय
यह सरस संसार सुख का सिंधु है"

पर इससे यह न समझना चाहिए कि आधुनिक कविता में प्राचीन रतिकथा का उद्दाम स्वर है ही नहीं। विभावपक्ष के विवेचन में निरालाजी की 'जूही की कली' शीर्षक कविता दी जा चुकी है,* भला वह बिहारी के 'यों दल मलियत निर्दयी दई कुसुम से गात' से कैसे कम कही जा सकती है? सच बात तो यह है कि आज प्रगतिवाद में अवचेतन की काम कुंठाओं का यथातथ्य चित्रण जो मिलता है और—

"वह आएगी
मेरा ढाप लेगी नंग
अपनी देह से
बढते स्नेह से"

* दे० पृष्ठ १८।

सी अश्लील कविताएँ भारती के मन्दिर में पटती जा रही हैं उसका अभाव छायावाद मे नही है। अंतर इस बात में है कि छायावाद प्रकृति प्रतीको का आड़ लेकर चला, किंतु प्रगतिवाद प्रायः इन प्रतीको का आधार नही लेता। जिस प्रकार वहाँ 'कामिनी का आमत्रण' स्पष्ट रहता है उसी प्रकार अनेक प्रकार के रति-संकेत भी। और तो और वासना का वह पाशविक रूप भी नंगे रूप में मिलता है जिसे बलात्कार कहते हैं और जो वर्तमान धर्म और न्याय की दृष्टि से दंडनीय है ही, सम्भवतः प्रगतिवादी 'नव संस्कृति' मे भी अक्षम्य अपराध ही माना जायगा—

"आज सोहाग हरूँ मैं किसका,
लूटूँ किसका यौवन ?
किस परदेशी को बंदी कर,
सफल करूँ यह वेदन ?"

—अंचल

संभवतः इसी प्रकार की रचना देखकर पं० जवाहरलाल ने कहा था कि आधुनिक काव्य दरबारी है। यद्यपि आधुनिक कवि राजा-महाराजाओं के मनस्तोष के लिए रचना नहीं करते, तथापि इसमें संदेह नहीं कि मध्यकालीन और आधुनिक काव्य की बाह्य असमानताओं के भीतर भी एक ही वासना की प्रेरणा है।

यहाँ एक और बात ध्यान में रखने योग्य है। पुरानी कविता

में ईश्वरविषयक रति दो रूपों में आई है—सुभीते के लिए एक को विशुद्ध रतिभाव और दूसरे को पूज्यभाव-मिश्रित रतिभाव या भक्ति कह सकते हैं। ईश्वरविषयक विशुद्ध रति में वे कविताएँ आएँगी जिनमें ईश्वर की भावना प्रियतम के रूप मे की गई है—जैसे गोपियो का या मीरा आदि का रतिभाव। दूसरी श्रेणी में वे कविताएँ आती हैं जो विनय के रूप में पाई जाती हैं—जैसे सूर और तुलसी इत्यादि के विनय के पद। पुराने कवियो में इन दोनों प्रकार की कविताएँ भिन्न-भिन्न हैं। पर आधुनिक कविता में विनय या पूज्यभाव का प्रायः अभाव है। हाँ, छायावाद की आध्यात्मिक प्रेम-भावना संबंधी कविताएँ प्रथम कोटि के अन्तर्गत आ जाती हैं। पर जैसा कि पीछे कहा जा चुका है इन कविताओ में रतिभाव के नाना रूपों और अंतर्दशाओं के सम्यक् निरूपण का प्रयत्न बहुत ही कम पाया जाता है। प्रेमी और प्रियतम के भेद-भाव को दूर करने का आग्रह अधिक रहता है। इस प्रकार की कविता में सबसे तीव्र स्वर है महादेवी वर्मा का जिनमें वैयक्तिक भावना इतनी प्रबल हो गई है कि वह राष्ट्र और समाज की भावना से शायद ही मेल खाए। इस प्रकार की कविता में यों तो प्रियतम अनेक रूप में दिखलायी पड़ता है पर अधिकतर निष्ठुर नायक के रूप में ही आता है और उसके लिए आकुलता ही अधिक रहती है—

"मैं ससीम असीम सुख से सींच कर संसार सारा।
साँस की विरुदावली से गा रहा हूँ यश तुम्हारा।

पर तुम्हें अब कौन स्वर स्वरकार मेरे पास लाए,
भूलकर भी तुम न आए।"

—रामकुमार वर्मा

आलंबनभेद से रति के जो कई स्वरूप प्राचीनों ने निर्दिष्ट किए थे उनको वर्तमान काव्य में जगह नहीं मिलती है। यदि रति का और कोई दूसरा रूप दिखाई पड़ता है तो देशविषयक रति का। देश पर जो कविताएँ हुई हैं वे उत्साहभाव लेकर भी और रतिभाव लेकर भी। देशसेवा के लिए कष्ट सहना, अपने को निछावर करना देशप्रेम के कारण होता है। कष्ट सहने का उत्साह संचारीरूप में रहता है। देशविषयक कविताओं में उत्साह की प्रधानता वहाँ पर स्पष्ट दिखाई देती है जहाँ कवि की वृत्ति देशपीड़क की ओर उन्मुख होती है और कवि इस रूप में कहता है कि चाहे विरोधी हमें चीर डालें, चूर कर डालें, हम पथ से न हटेंगे। अर्थात् जहाँ दृष्टि मुख्यतः देशसेवा के मार्ग में बाधा डालने वाले, देशपीड़क आदि की ओर होती है वहाँ उत्साह होता है और जहाँ कवि की दृष्टि देश के सुंदर स्वरूप, उसके द्वारा पोषित होने, उसके लिए सब प्रकार के दुःख-कष्ट सहने की ओर होती है वहाँ रतिभाव होता है। अस्तु, देशविषयक रति में वे ही कविताएँ आएँगी जिनमे कवि का हृदय देश-सौंदर्य पर मुग्ध और उस पर सब कुछ उत्सर्ग करने के लिए प्रस्तुत दिखाई देगा—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा

सरस तामरस-गर्भ-विभा पर—नाच रही तरुशिखा मनोहर
छिटका जीवन हरियाली पर, मंगल कुंकुम सारा
लघु सुरधनु से पंख पसारे—शीतल मलय समीर सहारे
उड़ते खग जिस ओर मुँह किए-समझ नीड़ निज प्यारा
बरसाती आँखों के बादल—बनते जहाँ भरे करुणाजल
लहरें टकराती अनंत की—पाकर जहाँ किनारा
हेमकुंभ ले उषा सवेरे—भरती ढुलकाती सुख मेरे
मदिर ऊँघते जब रहते—जगकर रजनी भर तारा"

—प्रसाद

प्रगतिवाद में देशरति का उक्त स्वरूप ढूढ़ने से ही मिलेगा। सम्भवतः वहाँ वह विश्वमानवतावाद से (मानवता से नही) दबकर ग्राम-रति मे सिमिट कर रह गई हैं जिसमें कहीं "लाखों की अगणित संख्या में ऊँचा गेहूँ डॅटा खड़ा है" और "ताकत से मुट्ठी बॉधे, नोकीले भाले ताने मर-मिटने को झूम रहा है" और कही पर हठीली अलसी का स्वयम्वर हो रहा है*। कही—

"हँसमुख हरियाली आतप
सुख से अलसाए से सोए,
भीगी अँधियाली मे निशि की
तारक स्वप्नों में से खोए—
मरकत डिब्बे-सा खुला ग्राम—
जिस पर नीलम नभ आच्छादन,

* उदाहरण के लिए कु० दे० पृष्ठ १४

निरुपम हिमांत में स्निग्ध शांत

निज शोभा से हरता जन मन"।※

पर ग्राम्य-शोभा पर मुग्ध होनेवाली दृष्टि भी पंत ऐसे २-४ सिद्ध कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियो में नहीं मिलेगी। अतः उद्धरणगत रचनाओं को प्रगतिवाद की प्रतिनिधि कविता नहीं कहा जा सकता। सच्चे प्रगतिवादी की ग्राम्य-रति का नमूना निम्नलिखित पंक्तियों मे देखिये :—

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे

कुछ पाँच कोस की दूरी पर।

भू की छाती पर फोड़ो से

हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर।

मै कहता हूँ खँडहर उसको

पर वे कहते है उसे ग्राम।

जिसमें भर देती धुँधलापन

असफलता की सुबह-शाम।"

—भगवतीचरण वर्मा

यहाँ है तो रति ही, पर वह न तो उत्साह में संचरण करती है और न उसमें 'हर्ष' और 'उत्साह' का संचार है। फलतः वह करुण हो गई है और उसमें 'जुगुप्सा' का संचरण हो रहा है। अस्तु प्रगतिवादी कविता में देशविषयक रति की चर्चा ही व्यर्थ है। उसमें यदि इसका कोई रूप मिलता है तो रूस विषयक

※ कृपया दे० ग्राम्या पृष्ठ ३८

(परकीय) रति का, जिसे देखकर देशप्रेमी हृदय से हठात् निकल पड़ता है—

> "चिल्लाते हैं विश्व-विश्व कह जहाँ चतुर नर-ज्ञानी,
> बुद्धि-भीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी।
> जहाँ मास्को के रणधीरो के गुण गाए जाते,
> दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते।"
>
> —दिनकर

रति के संबंध में एक बात और कह कर यह प्रकरण समाप्त किया जाता है। पुराने कवि काव्यानुभूति का साधन इस दृश्य जगत् को मानते थे। वे इसके प्रभाव से ही प्रभावित होते थे। कल्पना के लिए इंद्रिय-ज्ञान की उपेक्षा नहीं करते थे। कल्पना का आधार दृश्य जगत ही है, इसे स्वीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति नही होती थी। संभवतः यही कारण है कि वे अपने आलबनो का नखशिख-वर्णन करना अपना कर्तव्य समझते थे। इतना ही नहीं, वे उन विषयो को भी नहीं छोड़ सकते थे जिनका उनके नायक-नायिकाओ के सुख-दुःख में विशेष हाथ रहता था। अतएव वे विस्तारपूर्वक षट्ऋतुओ का वर्णन करते थे। इस वर्णन मे प्रकृतिवर्णन भी आ जाया करता था। उनके प्रकृति-वर्णन मे नदी, पहाड़, झरने इत्यादि (ईश्वरकृत) ही नही रहते थे, वे वस्तुएँ भी आती थीं जो मनुष्यकृत हैं। वे तड़ाग, वापी, चौहट्टा आदि मानवीय कृतियों को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखते थे। पर छायावादी कवि अंतःसौंदर्य के प्रत्यक्षीकरण के आगे

बाह्य सौंदर्य को स्थान ही नहीं देना चाहता। अंगों के अभाव के कारण 'सुरीले ढीले अधर', 'कान से मिले अजान नयन', 'पुरइन से कान', 'बिखरी अलकें', 'मोती के दाने' इत्यादि बनावटी, निष्प्राण और अशक्त दिखाई देते हैं। पन्त की प्रेयसी बाला का अंतःसौन्दर्य बाह्य सौंदर्य के बिना उतना प्रभावोत्पादक नहीं रह गया है—

"सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन,
कान से मिले अजान नयन,
सहज था सजा सजीला-तन।"

—पंत

'जूही की कली', 'पल्लव-बाल' इत्यादि अपने सहवर्गियों के साथ न होने के कारण वाटिका का आनन्द नही देते। हाँ, नमक के पानी में पड़े हुए गुलदस्ते का शौक अवश्य पूरा कर देते हैं। सारांश यह कि छायावादी कवियो ने अंतःसौंदर्य के प्रत्यक्षीकरण के आगे विभाव पक्ष की पूर्णता की ओर दृष्टि न रख कर कहीं कहीं उसके अंगो के सौन्दर्य का आभास कुछ उपमानों द्वारा दे दिया है—

"मुख - कमल - समीप सजे थे
दो किसलय मे पुरइन के
जल - बिंदु सदृश ठहरे कब
उन कानों में दुख किनके ?"

—प्रसाद

"मुकुल बनती होगी मुसकान
प्रिये मेरे प्राणों की प्राण
मृदूर्मिल सरसी ये सुकुमार
अधोमुख अरुण सरोज समान"
—पंत

इससे स्पष्ट हो जाता है कि विभाव पक्ष की सर्वथा अवहेलना नहीं की जा सकती। अतः शारीरिक सौंदर्य के अनेक रमणीय चित्र छायावाद में भी मिलते हैं। किंतु इसमें उसकी वृत्ति जमी नहीं है। इसका बहुत बड़ा कारण है—विभाव-निरूपण का प्रकृत क्षेत्र संयोग शृंगार है जिसमें दृष्टि सदा बहिर्मुखी रहती है। अतः प्रेमी प्रिय पर ही नहीं वरन् प्रिय से सम्बंध रखनेवाली समस्त वस्तुओं पर सदा आँख गड़ाए रहता है और उनकी एक-एक विशेषता को पूरे मनोयोग से ग्रहण करता चलता है। यही कारण है कि सयोग शृंगार में विभाव-निरूपण के लिए पूरा अवकाश रहता है। छायावादी कविता वियोग शृंगार को लेकर चली। उसमें संयोग के जो चित्र आए हैं वे 'स्मृति' के रूप में। स्मृति अतीत की होती है और अतीत सर्वदा धुँधला रहता है। अतः छायावादी कविता में मूर्त सौंदर्य बहुत कम मिलता है। प्रगतिवाद अतीत की ओर ताकना भी नहीं चाहता। वह वर्तमान को लेकर चलता है। फलतः उसमें संयोग अधिक है और जैसा पहले ही लिखा जा चुका है, उसमे ऐंद्रिकता ही ऐंद्रिकता है और वह इतनी अधिक है कि अश्लीलता की बाढ़ आ गई

है। यहाँ उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं—स्थान स्थान पर अनेक ऐसे उदाहरण दिए जा चुके हैं। अधिक उदाहरण देने से इस पुस्तक में भी अश्लीलता की बाढ़ आ जायगी और 'सुरुचि' को बहा ले जायगी। विवश होकर जो ऐसे उद्धरण देने पड़े हैं उनके लिए ही मैं सुरुचि पूर्ण पाठकों से क्षमा माँगते न थकूँगा।

इसमें संदेह नहीं कि पुरानी कविता का प्रकृतिवर्णन और नखशिख-वर्णन अधिकतर परपराभुक्त था। कविगण अपने प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत-विधान के लिए अपनी आँखो को कष्ट नहीं देते थे, जो कुछ पूर्ववर्ती कवियो के वर्णनों में पा जाते थे उसीसे संतोष कर लिया करते थे। उनके हृदय में प्रकृति का कोई स्वतंत्र स्थान न था। उसका उपयोग प्रायः नायक-नायिकाओं के विरह को उद्दीप्त करने के लिए ही होता था। परिणाम यह हुआ कि कविता में एकरूपता आ गई और बार बार पिष्टपेषण के कारण उतना अनुरंजन भी नहीं रह गया। दो एक कवियो ने 'क्षणे क्षणे या नवतामुपैति' का आदर्श सामने रखा भी पर उन्होंने उस कवि-प्रतिभा का प्रयोग क्लिष्ट कल्पना करने में ही किया। इधर के कवि स्वयं प्रकृति को देख कर उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, पुस्तको के पन्नो को उलट कर नहीं। अतः स्वतः निरीक्षण द्वारा प्राप्त कुछ नवीन तथ्यो का भी उपयोग हुआ। इससे कविता की एकरूपता तो अवश्य दूर हुई, उसमें नवीनता तो अवश्य आई, पर साथ ही उसमें उच्छृंखल व्यक्तिवाद भी घुस आया। व्यक्तिगत रुचि और अनुभूति पर अधिक विश्वास

रखने के कारण आजकल की बहुत सी उक्तियाँ लोक की सामान्य हृदय-भूमि से दूर पड़ी रहती हैं और कल्पनाएँ क्लिष्ट (फार-फेचेड) हो जाती हैं। * लोग यह नहीं सोचते कि नवीनता और असामान्यता की भी एक सीमा होती है। उसके अतिक्रमण से, प्राचीनता के सर्वथा त्याग से नई वस्तु आश्चर्यजनक भले हो जाय पर उतनी आह्लादकारिणी नहीं हो सकती जितनी नवीनता और प्राचीनता के सामंजस्य से हो सकती है। इस विषय में आगे चलकर (जहाँ कलापक्ष का विवेचन होगा) विचार किया जायगा।

अब उत्साह भाव को लीजिए। जिस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने चार प्रकार की रति को काव्योचित माना था, उसी प्रकार चार प्रकार के उत्साह को भी—१ धर्मोत्साह, २ दानोत्साह, ३ दया विषयक उत्साह और ४ युद्धोत्साह। पर काव्य मे सबसे अधिक युद्धोत्साह अपनाया गया। इसका कारण संभवतः यह था कि अन्य तीन प्रकार की वीरताओं की अपेक्षा युद्धवीरता अधिक व्यापाराश्रयी है और प्राचीन काल की कविता में कर्म (ऐक्शन) का महत्व विचार (थाट) से कम न था। इसके अतिरिक्त युद्धोत्साह अन्य प्रकार के उत्साहों से अपेक्षा-

प्राचीन और नवीन कविता मे उत्साह भाव

* 'छपी सी पी सी मृदु मुसकान' मे 'पी सी', 'चाँदनी मे स्वभाव का वास' मे 'चाँदनी', 'विचारो मे बच्चो की साँस' मे 'बच्चों की साँस' का अर्थ बिना क्लिष्ट कल्पना के कैसे निकल सकता है।

कृत अधिक संक्रामक और व्यापक है। यह मनुष्य की सभ्यावस्था एवं असभ्यावस्था दोनों में पाया जाता है। साथ ही इसके मूल में व्यक्तिगत स्वार्थ कम और लोकरक्षण की प्रवृत्ति अधिक रहती है। इसके विपरीत दया, दान, और धर्म मनुष्य की आदिम वृत्तियाँ नहीं हैं। इनका विकास संस्कृति और सभ्यता के विकास के साथ होता है और इनमें व्यक्तिपक्ष प्रधान होता है। यही कारण है कि युद्धोत्साह लोक के अधिक काम का है और काव्य में अधिकतर उसी का ग्रहण हुआ है। संस्कृत-साहित्य मे तो चारो प्रकार की वीरता मिलती है, पर हिंदी-साहित्य में युद्धोत्साह के अतिरिक्त औरों का प्रायः अभाव सा है।

यों तो भारतवर्ष का उत्साह विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी से ही सो सा गया था। हाँ, प्रबंध-काव्यो मे कही कहीं चमक उठता था। धर्मोत्साह, दानोत्साह और दयाविषयक उत्साह तो नहीं ही पनपे। पर मुसलमानी शासन के उत्तर काल में युद्धोत्साह प्रबल पड़ा। इसके पूर्व जो वीरता पर कविता हुई उसे विशुद्ध वीरकविता नहीं कह सकते। वीरगाथा काल का वीररस शृंगार के साथ मिला जुला आया है, स्वतंत्र रूप मे बहुत कम। करुण का आधार लेकर यदि यह वीरता चलती तो इसका रूप अधिक निखरता चलता क्योंकि आर्त को करुणामुक्त करने से मानस उल्लसित होता और यह उल्लास ही साहस के साथ मिलकर 'उत्साह' हो जाता है। अतः करुणा की प्रेरणा से वीर पुष्ट होता है। यही कारण है कि आचार्यों ने 'करुण' को 'वीर' का

सहायक माना है, यद्यपि पहला दुखात्मक है और दूसरा सुखात्मक और इसलिए परस्पर विरोधी हैं। पर 'वीरगाथा काल' में ऐसा नहीं किया गया। ऐसा हो भी कैसे, रासो काव्यों के पढ़ने से स्पष्ट पता चलता है कि उस समय कवियो में उदात्त भावनाओं का अभाव सा था। प्रायः कविगण राजा नामधारी व्यक्तियों की झूठी प्रशंसा में ही अपनी कविप्रतिभा का अपव्यय करते रहते थे। जो झूठी प्रशंसा नहीं भी करते थे वे भी इस ओर ध्यान नहीं देते थे कि वीर का रूप उस समय निखरता है जब वह लोक-पीड़ा दूर करके लोकरंजन करने मे रत होता है। जो वीर केवल शौर्य-प्रदर्शन के लिए युद्ध करते हैं वे वीर भले हों, लोक प्रिय नहीं हो सकते। उनके विरुद्ध यदि कोई कहना चाहे तो यहाँ तक कह सकता है कि वे वीर नहीं, हत्यारे हैं। कहना न होगा कि हिंदी के पुराने कवियो ने इस प्रकार के शौर्य प्रदर्शन करनेवाले राजाओ को भी काव्य का विषय बनाया है। हॉ भूषण, लाल आदि पीछे के कुछ थोड़े से कवि उत्कृष्ट मार्ग पर चले। भूषण ने शिवराज की स्तुति इसलिए नहीं की है कि वे भूषण के आश्रयदाता थे, वरन् इसलिए की है कि वे अत्याचार और अन्याय का दमन करनेवाले थे। "दौलत दिल्ली की पाय कहाए अलमगीर बब्बर अकब्बर के बिरद बिसारे तैं" से स्पष्ट पता चलता है कि भूषण इसलाम धर्म के नहीं, अन्यायी और अत्याचारी औरंगजेब एवं उसके कर्मचारियों के विरोधी थे। शिवराज के हृदय का योग शिष्ट समाज के हृदय से था,

औरंगजेब सामान्य आलंबन था और भूषण का हृदय समाज का प्रतिनिधि-हृदय था। यही स्वरूप युद्धवीर काव्य का होना चाहिए। उदात्त भावना के विचार से जैसे इन कवियो की कविता श्लाघ्य है वैसे ही उसमे ओज का भी अभाव नहीं है, पराक्रम का अच्छा उत्कर्ष दिखाया गया है। पर अलंकारो के बोझ और जानकारी-प्रदर्शन के आडंबर से इस समय की कविता कुछ लँगड़ी और शिथिल भी दिखाई पड़ती है।

यह तो हुई उस कविता की बात जिसके विषय उच्च वर्ग के व्यक्ति होते थे। अब थोड़ा सा विचार उस कविता पर भी कर लेना चाहिए जिसके विषय देवता होते थे। इस कविता के संबंध में बेधड़क कहा जा सकता है कि उसका स्थान नरकाव्य से अधिक ऊँचा है। पर जिस प्रकार भक्त कवियो के प्रेम का स्वरूप दांपत्य प्रेम होने पर भी दांपत्य प्रेम नहीं माना जाता उसी प्रकार देवविषयक वीरकाव्य को भी युद्धवीर-काव्य नही कह सकते। यहाँ भी वीरता के मूल में भक्ति-भावना छिपी हुई है। हनुमान, दुर्गा, नृसिंह आदि कोरे वीर ही नही, आराध्य देव भी हैं। ऐसे वीरकाव्यों की कविता उसी प्रकार श्लाघ्य है जिस प्रकार भक्त कवियों की प्रेमसंबंधी कविता। इसका कारण यह है कि वीर-देवकाव्यों के उत्साह भाव के आश्रय हिंदू जनता के सामान्य और व्यापक आश्रय हैं क्योंकि इनकी शक्ति लोक-मंगल के विधान में रत है, इनका ओज लोकरक्षक और लोक रंजक है।

मुसलमानो के शासन के अनंतर अँगरेजो के शासनकाल में देश मे राजनीतिक हलचल मची और कांग्रेस ने जोर पकड़ा। इससे राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ, जिससे उत्साह का क्षेत्र विस्तृत हो गया। पुरानी कविता में युद्धोत्साह की प्रधानता थी, इसलिए आलंबन पक्ष (शत्रु) का उत्कर्ष ओज को बढ़ाता था—

"डहडहे डंकन के सबद निसंक होत,
बहबही शत्रुन की सेना जोर सरकी।
'हरिकेस' सुभट घटान की उमंग उत,
चंपति को नंद कोप्यो उमँग समर की॥
हाथिन की मंड मारू राग को उमंड त्यों-त्यो
लाली झलकति मुख-छत्रसाल बर की।
फरकि फरकि उठैं बाँहे अस्त्र बाहिबे कौं,
करकि करकि उठै करी बखतर की॥"

पर वर्तमान काल में देशविषयक उत्साह प्रबल हो उठा। अस्तु, खून उबलने के लिए खून देखने की आवश्यकता पड़ने लगी; अपने अपकर्ष की भावना लेकर जोश बढ़ाने का प्रयत्न होने लगा—

"चाँदी-सोने की आशा पर, अंतस्तल का सौदा,
हाँथ - पाँव जकड़े जाने को, आमिष-पूर्ण-मसौदा,
टुकड़ों पर जीवन की साँसें,-कितनी सुंदर दर है,
हूँ उन्मत्त, तलाश रहा हूँ-'कहाँ वधिक का घर है?"

"दमयंती के 'एक चीर' की—
मांग हुई बाजी पर।
देशनिकाला स्वर्ग बनेगा,
तेरी नाराजी पर!!"

यद्यपि अपने अपकर्ष पर रोना जितना स्वाभाविक हो सकता है उतना गर्जना नहीं। फिर भी दुःख के आधार पर खड़ा हुआ उत्साह अनर्गल नहीं दिखाई पड़ता। कभी कभी शोक से क्रोध होता है जो आगे चल कर उत्साह मे परिवर्तित हो जाता है। यह बात दूसरी है कि उससे वीरभावनाएँ पर्याप्त रूप में न उमड़ें। स्फुट कविता से यह है भी बहुत कम संभव। इसके लिए तो पुराने ढंग के प्रबंध-शैली पर लिखे गए वीरकाव्य ही उपयुक्त हो सकते हैं जिसका आधुनिक काल में शोचनीय अभाव है। माता के स्नेह और पत्नी के प्यार को ठुकराते हुए 'जयद्रथ वध' में वीर अभिमन्यु का राष्ट्रीय यज्ञ में प्राणों की आहुति देने का उत्साह हमें जिस वीर और राष्ट्रीय भावना से भर देता है वैसी भावना 'उद्बोधन' क्या पूरी 'भारत-भारती' से भी नहीं होती।

राष्ट्रीय भावना ने देशविषयक उत्साह को तो जन्म दिया ही साथ ही इससे एक प्रकार का उत्साह और पल्लवित हुआ। हमारी भारतीय संस्कृति मे सत्य का माहात्म्य पुरातन है, पर महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन से इसकी स्तुति और भी बढ़ गई। कविगण गाने लगे—

....

सत्यरूप हे नाथ ! तुम्हारी शरण रहूँगा
जो व्रत है ले लिया लिए आमरण रहूँगा
ग्रहण किए मै सदा आपके चरण रहूँगा
भीत किसी से और न हे भयहरण ! रहूँगा
पहली मंजिल मौत है प्रेम - पंथ है दूर का
सुनता हूँ मत था यही सूली पर मंसूर का"

—सनेही

इसी प्रकार अनेक प्रकार की सद्भावनाओ के उद्गार प्रकट किए जाने लगे। देश के बालको, स्त्रियों, दलित जातियो इत्यादि को प्रोत्साहन दिया जाने लगा और वे राष्ट्रीय युद्ध के लिए आमन्त्रित किए जाने लगे।* मातृभूमि के दुःख को और अपनी असमर्थता को देखकर इस प्रकार का आश्वासन मिलने लगा—

"माँ मेरे जीवन की हार
तेरा मंजुल हृदय-हार हो
अश्रुकणो का यह उपहार ;
मेरे सफल श्रमो का सार
तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल
श्रम-जलमय मुक्तालंकार ।
मेरे भूरि दुखो का भार
तेरी उर-इच्छा का फल हो

* उदाहरण आलम्बन विभाव पर विचार करते हुए दिए जा चुके है।

तेरी आशा का शृंगार

मेरे रति, कृति, व्रत-आचार

माँ ! तेरी निर्भयता हों नित

तेरे पूजन के उपचार—

यही विनय है बारंबार" ।

—पंत

आगे चलकर प्रगतिवाद में यह भावना कहने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय होकर व्यापक हो गई। किन्तु व्यवहार में वह सर्वथा एकदेशीय रह गई। एक ओर वीरोन्मेष के लिए मानव समाज न रहकर कृषक और श्रमिक विशेषतया श्रमिक रह गए और दूसरी ओर भारतीय लोक जीवन से दूर पड़ा हुआ रूस सामने लाया गया। कविगण गाने लगे—

"खोलो लाल निशान

हो सब लाल जहान, खोलो लाल निशान"

— नरेन्द्र

"यह इस युग के संघर्षों का सबसे प्रबल प्रतीक है

लाल फौज ने लाल खून से आज बनाई लीक है

इस जागृति के स्वर में जन-जन कण-कण आज शरीक है"

—सुमन

बहुत से कवि सम्भवतः कष्टसहिष्णुता और उत्साह को एक ही मान बैठते हैं। पर यह बिलकुल बे-सिर-पैर की बात है। सब प्रकार की कष्टसहिष्णुता उत्साह के अन्तर्गत नहीं आ सकती।

फोड़ा चिरवानेवाला वीर नहीं हो सकता। जैसा पहले लिखा जा चुका है वीरता उस साहस को कहते हैं जिसका साथी आनन्द हो। उसासो से जगत् को जलानेवाली, आँसुओं से व्रज को बहानेवाली, अपने दुखड़ों को सुना-सुनाकर व्रज-पथिकों का मार्ग छुड़ानेवाली, स्वप्न के मिथ्या सुखों तक के लिए तरसने-वाली गोपिकाएँ क्या वीर कही जा सकती हैं ? गोपियों का कष्ट सहना उत्साह के कारण नहीं, प्रेम के कारण है। वह उत्साह का अंग नहीं, प्रेम का अंग है। इस प्रकार गोपियो को वीर प्रेमिका न कहकर अनन्य प्रेमिका कहना ही उचित है। हाँ, वीरों के नाम गिनानेवाले कवियो के लिए सब क्षम्य है।

अब तक इस विषय में जो कुछ कहा गया है उससे इस बात का आभास सरलता से मिल सकता है कि 'वीरपंचरत्न' और 'जयद्रथ-वध' ऐसे दो एक काव्यो को छोड़कर अधिकांश नवीन वीरकाव्यो में वीरत्व के बाह्य और अभ्यंतर दोनो पक्ष नही रहते जिसमे युद्ध-व्यापार का भी वर्णन हो और हृदय की उमंग, साहस आदि का भी। नवीन कविता की प्रवृत्ति वीरत्व के अभ्यंतर स्वरूप के दिग्दर्शन की ओर अधिक रहती है। नीचे उद्धृत पद्य में पुरानी कविता की भाँति वीर रूप दिखलाने के लिए न तो 'बख्तर की करी करकाई' गई है और न 'अस्त्र बाहिबे कौ बाहैं' फड़काई गई हैं वरन् उसमें वीर हृदय की उच्चता और उदारता का सुन्दर चित्र भर सामने रखा गया है—

कहा तमककर तब प्रताप ने—"क्या कहा—

अनुचित बल से लेना काम सुकर्म है !
इस अबला के बल से होगे सबल क्या ?
रण में टूटे ढाल तुम्हारी जो कभी
तो बचने के लिए शत्रु के सामने
पीठ करोगे ? नहीं, कभी ऐसा नही,
दृढ-प्रतिज्ञ यह हृदय तुम्हारी ढाल बन
तुम्हें बचावेगा। इस पर भी ध्यान दो
घोर अँधेरे मे उठती जब लहर हो
तुमुल घात-प्रतिघात पवन का हो रहा
भीमकाय जलराशि क्षुब्ध हो सामने
कर्णधार - रक्षित - दृढ - हृदय सु-नाव को
छोड, कूदना तिनके का अवलंब ले
घोर सिंधु में, क्या बुधजन का काम है ?
परम सत्य को छोड न हटते वीर है।
सालुंब्राधिपते ! क्या अब होगा यही
क्षुद्र - कर्म इस धर्मभूमि मेवाड में ?
और 'अमर' ने ही नायक हो कर स्वयं
किया अधम इस लज्जाकर दुष्कर्म को !
बस बस, ऐसे समाचार न सुनाइए
शीघ्र उसे उसके स्वामी के पास अब
भेज दीजिए, बिना एक भी दुख दिए।
सैनिक लोगों से मेरा संदेश यह

कहिए कभी न कोई क्षत्रिय आज से
अबला को दुख दे, चाहे हो शत्रु की।
शत्रु हमारे यवन—उन्ही से युद्ध है
यवनीगण से नहीं हमारा द्वेष है।
सिंह क्षुधित हो तब भी तो करता नही
मृगया, डर से दबी श्रृगाली वृंद की।"

—प्रसाद

प्रगतिवादी युग में युद्ध समस्या के रूप मे आया और वह विवेचन का विषय बन गया। यौवन की उमंग से भरे हुए 'हुंकार'-कर्ता दिनकर ने हिंदी साहित्य को नया 'कुरुक्षेत्र' दिया जिसमे वीरदर्प से रँगने के लिए सामग्री तो है किंतु 'कुरुक्षेत्र' नाम देखकर वीर-रस की धारा में बहने की इच्छा रखने वाले को हताश ही होना पड़ेगा। उसमे उस घटनात्मक और वर्णनात्मक अवयव का प्रायः अभाव है जो 'हल्दीघाटी' को वीर-काव्य बनाने मे समर्थ हुआ है और जिसके अभाव तथा विचारों के न्यास की अधिकता के कारण 'कुरुक्षेत्र' युद्ध-मीमांसा हो गया है। कहा नहीं जा सकता कि दिनकर की वह साम्यवादी आवाज जो उन्होंने सामाजिक वैषम्यो और अनीतियो के विरुद्ध दलित वर्गों को युद्ध के लिए तैयार करने को उठाई है वह शोषितों के हृदय तक पहुँचती है या नहीं? साधारण पाठक उसमें दिनकर का वह संकल्प भी कठिनाई से ढूँढ़ पाएगा जो उन्हें साम्प्रदायिक प्रगतिवादियों से अलग रखता है—

"वर्तमान की चित्र पटी पर भूतकाल संभाव्य बने,
गत विभूति भावों की आशा ले युग धर्म पुकार उठे।"

सारांश यह कि सांगोपांग वीररस को पुराने कैंड़े के कवियों ने जैसा लिया वैसा आजकल के नए कवि नहीं लेते। विश्वप्रेम और वीर का सम्भवतः मेल भी नहीं खाता। यद्यपि 'अनंत प्रेम' का 'अमर्ष' से विशेष विरोध होना चाहिए था, किन्तु आश्चर्य है कि उसका उतना अभाव नहीं है। आधुनिक कवियों के उत्साह के भीतर अमर्ष कहीं कही पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ मिलता है। कहीं कहीं वेदना, उत्साह और अमर्ष की अच्छी खिचड़ी तैयार हो जाती है—

"दिल को मसल-मसल मेहदी
रचवा आया हूँ मैं यह देखो
एक-एक अंगुलि-परिचालन में
नाशक-तांडव को पेखो
विश्वमूर्ति ! हट जाओ,—यह
वीभत्स प्रहार सहे न सहेगा
टुकड़े - टुकडे हो जाओगी,
नाश-मात्र अवशेष रहेगा
आज देख आया हूँ—जीवन के
सब राज समझ आया हूँ,
भ्रू-विलास में महा नाश के,
पोषक-सूत्र परख आया हूँ;

'जीवन गीत भुला दो-कंठ मिला दो

मृत्यु-गीत के स्वर से,

रुद्ध - गीत की क्रुद्ध - तान

निकला है मेरे अंतर-तर से' !!!

किन्तु जिनमें भाव-चक्र की पहचान है वे करुणा की बहुत ही समीचीन पीठिका देकर सशक्त वीर की प्रतिष्ठा करते हैं। एक उदाहरण लीजिए:—

"श्वानो को मिलता दूध वस्त्र भूखे बालक अकुलाते हैं

माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं

....

हटो व्योम के मेघ पंथ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं

"दूध-दूध" ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं"

—दिनकर

पर इस प्रकार की रचना आजकल अपवाद के रूप में ही मिलेगी। अधिकांश प्रगतिवादी तो वीरता की चरम सीमा महा-नाश या महाप्रलय में ही देखते हैं और आत्मविश्वास के अभाव में मृत्यु-पूजा की ओर उन्मुख रहते हैं—'है चिता की राख कर में माँगती सिंदूर दुनिया।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि नए ढंग की वीर-रस की कविता का कोई निश्चित ढंग नहीं है। इसमें 'उत्साह' कहीं शोक के साथ और कहीं 'अमर्ष' के साथ उलझता चलता है। प्रगतिवादी कविता में ओज प्रायः प्रचारात्मक वाक्य समूह में

दब जाता है जिससे काव्योचित वीरोन्मेष नहीं हो पाता और क्षोभ तथा करुणा का स्वर अधिक तीव्र हो जाता है। इतना ही नहीं कुछ रचनाएँ ऐसी भी मिलती हैं जो उमंग के स्थान में हास्य का उद्रेक भी करती है। 'कद्दुई का गीत' 'गर्रा नाला' इत्यादि रचनाएँ इसी कोटि में आती है। जैसा आगे कहा जा चुका है कि आज कल प्रभावान्विति की परवा नही की जाती जिसके कारण रस-धारा खंडित हो जाती हैं। किन्तु वीर की तो सारी रसवत्ता ही अन्विति पर निर्भर करती है क्योंकि उसमे यदि उमंग कहीं भी मंद पड़ेगा तो यह सबको निष्प्राण कर देगा।*
एक उदाहरण लीजिए जिसकी अलग अलग पंक्तिया बहुत ही सशक्त हैं, किन्तु प्रभावान्विति के अभाव मे न तो करुण ही उमड़ पाया है और न उत्साह ही निखर सका है। 'साहस' अलग पड़ा हुआ है और उससे उद्भूत आनंद अलग। फलतः क्रांति का स्वर उतना तीव्र नहीं हो पाया है जितना 'विषाद' की टीस है—

संग धैर्य ने छोड दिया पर तुमने मेरा साथ न छोडा
बार,बार टूटी साँसो का तुमने हँस हँस धागा जोडा
हाथ पकड़ कर खडा किया फिर रण सज्जा से मुझे सजाया
"कायरता ही प्राण मृत्यु है" बार बार यह पाठ पढाया

---

* उमग की अजस्र धारा की दृष्टि से वर्तमान वीर काव्यो मे प० श्यामनारायण पाण्डेय कृत 'हल्दीघाटी' का सबसे ऊँचा स्थान ठहरता है।

मरते हुए जिओ मत प्रियतम जीते हुए भले मर जाओ
अंतिम क्षण तक विद्रोही रह नहीं किसी को शीश झुकाओ
जब से पैदा हुए न हमने एक घडी भी सुख को जाना
कितना कठिन पेट का खंदक भरने को दो दाने पाना
मुट्ठी भर लोगो ने जग का लूट रखा है सभी खजाना
आज व्यक्तिगत प्रश्न नही है आज बदलना हमें जमाना
इन विपरीत भयंकर लहरों में चिंता क्या हम खप जावें
आनेवाली पीढी को भी यदि साहस का मार्ग दिखावें"

—प्रेमी

प्राचीन और नवीन कविता मे हास भाव

हास्य रस के संबंध मे विचार करते हुए यह ध्यान मे रखना चाहिए कि यह और रसो से भिन्न है। दूसरे रसो की पुष्टि अनुभाव आदि अवयवों की योजना से ही होती है, पर हास्य के लिए यह आवश्यक नहीं है—प्रायः आलंबन की सम्यक् योजना से ही रस-निष्पत्ति हो जाती है। इसमें अंतर्वृत्तियों के विश्लेषण के लिए यथोचित क्षेत्र नहीं मिलता। इसके अचिरिक्त, जैसा आगे कहा जा चुका है, कई कारणों से यह भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं पड़ता। इन सब कारणो से इसका विकास न तो प्राचीन हिंदी कविता में हुआ और न नवीन मे। वर्तमान काल में नाटकों और कुछ कहानियों मे इसकी अच्छी योजना मिल भी जाती है, परंतु कविता मे हास्य रस ढूँढ़ने से ही मिलता है। जो मिलता है वह

काव्य की कोटि में आ सकता है इसमें बहुत बड़ा संदेह है। पर जिस रूप में मिलता है उसका निर्देश तो होना ही चाहिए।

पुराने प्रबंध-काव्यों में कवि लोग कहीं कहीं हास्य रस के छींटे उड़ा देते थे। इसी प्रकार रीतिग्रंथ लिखते समय उदाहरणों के लिए और दरबारी कवि दिल्लगी के लिए हास्य के कुछ स्फुट छंद रच लिया करते थे। इस प्रकार के हास्य का प्रायः मुख्य आधार विकृत आकृति अथवा विकृत वचन हुआ करता था। पर वह हास्य घृणा, उपेक्षा इत्यादि भावों का कारण नहीं होता था प्रत्युत आनंद देता था और प्रिय लगता था। बिहारी के वैद्य जी को देख कर विनोद ही होता है, घृणा, विरक्ति आदि भावना नहीं—

"अति धन लै अहसान कै पारो देत सराहि
बैद-बधू हँसि रहसि सौं रही नाह-मुँह चाहि"

इसी प्रकार नारद और उद्धव भी घृणास्पद नहीं हैं। बेनी कवि की 'घर की बरबादी' भी हँसाती है, घृणा इत्यादि नहीं पैदा करती—

"आध पाव तेल में तयारी भई रोसनी की,
आध पाव रुई में पोसाक भई वर की।
आध पाव छाले को गिनौराँ दियो भाइन को,
माँगि माँगि लायो है पराई चीज घर की॥
आधी आधी जोरि 'बेनी' कवि की बिदाई कीनी,
ब्याहि आयो जब तें न बोले बात थिर की।

देखि देखि कागद तबीयत सु मादी भई,
सादी काह भई बरबादी भई घर की ॥"

पर नवीन कविता में विनोद ही विनोद नहीं रहता। आज-कल के कवि आलंबन के प्रति और भी कोई भाव—उपेक्षा, घृणा, विरक्ति इत्यादि दिखाने का प्रयत्न करते हैं—

समालोचक

"मै फेल हूँ 'मिडिल' पर बी०ए० के कान काटूँ।
ऐसा सपूत हूँ मैं, अब्बा को धर के डाँटूँ॥
बन करके साँप काला, लेखक को काट खाऊँ।
गुरु जी की खोपडी पर सोंटे सदा जमाऊँ॥
× × ×
खाता हराम का हूँ मैं घूसखोर पक्का।
आँखो की किरकिरी हूँ बाजार का उचक्का॥
× × ×
कल-कल के छोकडे जो मेरी करेंगे पूजा।
उनसा न और कोई होगा हकीम दूजा॥
जिसको कहो पछाड़ूँ रुस्तम का बन अखाडा।
मुझको रहे मुबारक मेरा कलम कुल्हाडा॥"

आजकल हास्य रस के विधान के लिए कवि वचन-वक्रता (आयरनी) का आधार तो लेते ही हैं साथ ही बेमेल भाषा द्वारा भी हँसाने का प्रयत्न करते हैं—

"नेकटाइन्कालरश्चैव मस्तके जुल्फिरेव च।
अक्षीणि आइग्लासश्च जैंटिलमैनस्स उच्यते॥"

—चोंच-महाकाव्य

"तुमसे अपना अब चाहता हूँ,
कर लेना बिना कुछ देरी कनेक्शन ।
'चोंच' अट्रैक्शन हो रहा है,
सच हूँ कहता इन योर डिरेक्शन ॥
कढती तुम हो नही नैनन से,
पढती तुम हो इन एक ही सेक्शन ।
तुम ताकती हो हमको न कभी,
मरते हम हैं इन योर अफेक्शन ॥"

—चोच-चालीसा

हमारे यहाँ पश्चिम की तरह हास द्वारा जीवन के सिद्धांतों की व्याख्या नहीं की गई है, केवल मनोरंजन के लिए ही इसका उपयोग हुआ है ।

खेद है कि हास्य रस में छायावादी ढंग की कविता लिखने वाले कवियों के छंद उदाहरण के लिए भी नहीं मिले । दुःखवादी कवियो से यह आशा भी नहीं करनी चाहिए । कहने की आवश्यकता नहीं कि छायावादी युग मे हास के विषय तो अवश्य बढ़े* पर कविता वैसी नही हुई, जो हुई है वह बहुत थोड़ी । अस्तु, छायावाद मे हास्य रस का वैसा विकास नही हो पाया । छायावाद के कवियो मे निराला जी ने कही कही इसका विधान व्यंग द्वारा किया था उसी को प्रगतिवाद ने एक काव्यधारा के रूप मे ग्रहण किया । अतः व्यंगप्रधान हास्य प्रगतिवादी

* कृ० दे० पीछे पृष्ठ ४९–५० ।

कविता में बहुत मिलता है। पर यह हास्य प्राचीन पद्धति के हास्य से इस बात में सर्वथा भिन्न है कि पुराने विधान के अनुसार हास्य का प्रधान उद्देश्य मनोरंजन है, किन्तु प्रगतिवादी हास्य का लक्ष्य वचन-प्रहार होता है। पहला उल्लसित हृदय से निकलता और उल्लास ही बिखेरता था, किन्तु दूसरा बुद्धि की क्रिया है जिससे क्षोभ मिश्रित विनोद मात्र होता है। रचना-प्रक्रिया में यह कहीं श्लेष और यमक का सहारा लेकर चलता है और कहीं अन्योक्ति, वक्रोक्ति और विरोध का। इस दृष्टि से दोनो मे कोई विशेष भेद नहीं है। (उदाहरण के लिए कृपया देखिए अलंकार विधान प्रकरण में उपर्युक्त अलंकारो का विवेचन।)

प्राचीन और नवीन कविता मे शोक

भावो के विवेचन में यह भली भाँति दिखाया जा चुका है कि मनोविकारो का कारण जीवन की इच्छा है। इस इच्छा के मूल में दो बातें पाई जाती हैं—(१) सुख की प्राप्ति और (२) दुःख की निवृत्ति। इनकी साधना का जैसा अवसर करुणा देती है वैसा दूसरे भाव नहीं। इसके अतिरिक्त 'शृंगार रस को छोड़ कर' और रसों में न तो इतनी व्यापकता है, न इतनी तीव्रता ही और न इतना स्थायित्व जितना शोक में है। हास तो बहुत ही क्षणिक होता है, विस्मय में भी हम बहुत देर तक नहीं पड़े रह सकते, क्रोध की भी घटे दो घंटे की ही अवधि होती है, जुगुप्सा से तो मनुष्य की स्वाभाविक घृणा है, उत्साह

कुछ ठहरता अवश्य है, पर करुणा के समान नहीं। सारांश यह कि काव्य में रति के अनंतर करुणा का ही स्थान है। किसी किसी ने तो करुणा को ही प्रधान रस कहा है—इसे शृंगार से भी ऊँचा स्थान दे दिया है। अपने यहाँ भवभूति ने "एको रसः करुण एव..." कहा ही है।* आधुनिक कवि पंत इत्यादि भी उसे सर्वश्रेष्ठ स्थान देते हैं।† पाश्चात्य कवि शैली ने भी इसे कविता मे सर्वोत्तम माना है।‡

करुण का प्रेरक भाव शोक है। यह शोक हमारी कविता में तीन रूपो में पाया जाता है—(१) इष्ट वस्तु के नाश से, (२) प्रिय व्यक्ति के निधन या पीड़ा से और (३) अपनी विपत्ति या कष्ट से। यद्यपि इष्ट के नाश का अर्थ बहुत ही व्यापक है, पर हमारे यहाँ की पुरानी कविता में शोक मुख्यतः आत्म-पक्ष तक, ही रहा। हाँ, तुलसी ऐसे कुछ भक्त कवियों ने अलबत्त लोकपीड़ा, अव्यवस्था आदि पर दुःख किया है—

---

* देखिए पीछे, पृष्ठ ७५।

† वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान,
उमड कर आँखो से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान।

‡ Our sweetest songs are those that tell of saddest thought

"दीनदयालु, दुरित दारिद दुख
दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव - दुवार पुकारत आरत
सबकी सब सुख हानि भई है॥

... ...

राज - समाज कुसाज कोटि कटु
कलपित कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परिमित पति
हेतुबाद हठि हेरि हई है॥
आस्रम - बरन-धरम-बिरहित जग
लोक - वेद - मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पापरत
अपने अपने रंग रई है॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि,
बढ़ी कुरीति कपट - कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति,
खल बिलसत हुलसति खलई है॥

... ...

दीजै दादि देखि नातौ बलि
मही मोद - मंगल - रितई है।
भरे भाग अनुराग लोग कहैं,
राम - कृपा - चितवन चितई है॥

बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि,
करुना - वारि भूमि भिजई है ।
रामराज भयो काज सगुन सुभ,
राजा राम जगत - बिजई है" ॥

... .. .

—विनयपत्रिका

हमारे यहाँ करुण रस को प्रधानता तो अवश्य दी गई है, पर शोक को वह स्थान कभी नही दिया गया जो जीवन को कुचलने वाला हो । सिद्धांत पक्ष मे यह संसार त्रितापो का केंद्र अवश्य स्वीकार किया गया है, पर काव्य ने इसकी परवा नहीं की है । हमारे यहाँ दुःखो का पर्यवसान सदा सुख मे हुआ है जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है ।

किंतु आज की प्रवृत्ति कुछ भिन्न है । इसका कारण कुछ तो जीवन की कठिनाइयाँ हैं और कुछ नकल की बुरी लत । पश्चिम में आजकल निराशावाद (पेसीमिज्म) की बहुत चर्चा है । अतः हमारे यहाँ के कवि भी अपने आदर्श को भूल कर कौए को कान ले जाते सुन दौड़ पड़ते हैं, कान को टटोलने का कष्ट नहीं उठाते । मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि दुःखवाद या निराशा-वाद हमारे यहाँ था ही नहीं । आध्यात्मिक पक्ष में वह भी था । पर उसके मूल में भी सुख छिपा हुआ था । हमारे ऋषि-मुनि पार्थिव सुख को तिलांजलि परम सुख की प्राप्ति के लिए देते थे । पर आज हम अध्यात्म का राग अलापने वालों से सुनते हैं—

"तुझको पीडा मे ढूँढा, तुझमे ढूँढूँगी पीडा"

—महादेवी वर्मा

मानों पीड़ा के अतिरिक्त आज हमारे लिए साधना के क्षेत्र में कुछ बचा ही नहीं। इस प्रकार की वेदना हमारी नई कविता में बहुत बढ़ रही है। इसे नए समीक्षक आध्यात्मिक शोक की व्यंजना कहते हैं। इसी का एक बच्चा और है जिसे वे अलौकिक वियोग की विकलता कहते हैं—

"निष्ठुर पीडन ही है मेरी,
मधुर प्रीति का प्रिय उपहार"

—द्विज

इस प्रकार की पीड़ा प्रेम की मधुर पीड़ा होनी चाहिए। इसीलिए रति के अंतर्गत वही वियोग आता है जिसमे पुनः समागम की आशा हृदयस्थ होती है। परंतु कही कही तो जबसे प्रेम हुआ तब से—

"वह अलभ्य है और दूर है:
उस पर क्या मेरा अधिकार?"

—द्विज

प्रेमी का प्रिय यह न कभी मिलेगा और न कभी दुःख जायगा। जब उन्हीं के मुख से सुना जाता है—

"बैठ बाट मैं जोह रहा हूँ,
इस आकुलता से किसकी
स्वप्न जगत में सदा देखता
विहसित छवि-छाया जिसकी"

—द्विज

तब मुँह से अचानक निकल जाता है कि यह जगत् विचित्र-ताओ का घर है, असंभव भी संभव हो सकता है। द्विज जी भी प्रसाद जी की भाँति 'मिल गए प्रियतम हमारे मिल गए' कह हृदयोल्लास से अपने जीवन के अंधकार को हटा सकते है। किंतु महादेवी जी के उद्धार के लिए कोई साधन नही दिखाई देता।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि इस प्रकार का आर्तनाद हिंदी-कविता मे क्यो फैला है? इसका उत्तर सिवा इसके और क्या हो सकता है कि वर्तमान शिक्षा के प्रभाव से हमारी अभिलाषाएँ महत्त्वाकांक्षा (ऐम्बिशन) मे बदल जाती है, पर उसकी पूर्ति होती नही। कहीं हमारा दांपत्य जीवन हमारे सुख में टाँग अड़ाता है, कहीं सामाजिक जीवन हमारी इच्छाओ को कुचलता है, कही आर्थिक परिस्थिति हमें उतना सुख नहीं समे-टने देती जितना हम चाहते हैं। अस्तु, बरबस रो पड़ते हैं—

"दुख की दीवारो का बंदी
निरख सका न सुखी जीवन,
सुख के मादक स्वप्नों तक से
बनी रही मेरी अनबन;"

—हरिकृष्ण 'प्रेमी'

यहाँ तक ठीक है। इतना होना यदि उचित नहीं तो अस्वा-भाविक भी नहीं है। पर कवि जगत् का नकलची मात्र नहीं है। वह कलाकार है, समाज का प्रतिनिधि है, समस्त जगत् मे विचरण करने वाला पथिक है, अपने दरवाजे पर बैठकर

अपनी दुःखगाथा सुनाने वाला रोगी नहीं। उसे एकांगी जीवन का व्यक्ति न होना चाहिए। ऐसा होकर वह समाज को कुछ दे नहीं सकता। यही कारण है कि जो सच्चे कवि जगत् और जीवन की अनुभूतियों से सपन्न है, अपना कुछ आदर्श समझते हैं, वे सदा अपनी कविता को जीवन की ही वस्तु बनाए रहते हैं। उनकी वाणी अमर विश्व-वाणी होती है। एक ओर जब वे ससार की दुर्व्यवस्था देखते हैं तो कहते हैं—

"सिसकते हैं समुद्र से मन,
उमड़ते है नभ से लोचन;
विश्ववाणी ही है क्रंदन,
विश्व का काव्य अश्रुकन!

गगन के भी उर मे है घाव,
देखती ताराएँ भी राह;
बँधा विद्युत् छवि में जलवाह,
चंद्र की चितवन में भी चाह,
दिखाते जड़ भी तो अपनाव,
अनिल भी भरती ठंडी आह!"

—पंत

किंतु जब उनकी दृष्टि सौंदर्य और माधुर्य संचित करने वाली 'मधुकरी' पर, सरलता और स्नेह का साकार स्वरूप 'शिशु' पर, लोकरंजन-कारी 'बादल' इत्यादि पर पड़ती है तब कहने लगते हैं—

"जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव जग में बँट जावे
दुख सुख से औ सुख दुख से
मै नहीं चाहता चिर - सुख
चाहता नही अविरत दुख
दुख सुख की खेल - मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख"

—पंत

वस्तुतः काव्य की सच्ची साधना यही है। अपने इसी गुण के कारण कवि स्रष्टा कहा जाता है। यह साधना प्रत्येक सच्चे कवि में मिलती है। पुराने कवियो मे भी दुःखवाद दिखाई ता है—

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका - बिहीन लोग सीद्यमान सोच - बस
कहै एक एकन सों "कहाँ जाई का करी ?"
वेदन पुरान कही लोकहुँ बिलोकियत
साँकरे समै में राम रावरे कृपा करी।
दारिद - दसानन दबाई दुनी, दीनबंधु,
दुरति - दहन देखि तुलसी हहा करी॥"

—गो० तुलसीदास

पर महात्मा जी को यह वेदना न तो जीवन की तरह प्रिय है और न असीम। वे लोक-मंगल की आशा रखते है और उसके लिए राम-राज्य की स्थापना का प्रस्ताव लाते हैं। सारांश यह कि दुःखवाद हमारे यहाँ भी रहा अवश्य, पर वह जीवन को कुचलने वाला पाश्चात्य निराशावाद नही था और न उसकी यहाँ आवश्यकता ही है। यह दिखलाया जा चुका है कि हमारे यहाँ के सच्चे कवि हार्डी (हार्डी) इत्यादि को अपना गुरु भी बनाना नहीं चाहते।

यह तो हुई आध्यात्मिक दुःखवाद की बात। इसके अतिरिक्त आधुनिक कविता मे शोक का एक स्वरूप और मिलता है जिसे राष्ट्रीय-भावनामूलक कह सकते हैं। उसका आलम्बन भारत का अतीत गौरव, देश-दारिद्र्य इत्यादि है। पर यहाँ भी 'करुणा' का कोई स्पष्ट रूप नही दिखाई देता। यह कहीं 'अमर्ष' के साथ और कहीं रति के साथ उलझता चलता है। भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र, अंचल और बच्चन की रचनाएँ इसी कोटि मे आती है। भगवतीचरण वर्मा के 'प्रेम संगीत' से एक उदाहरण लीजिए—

"धुँधली बनकर इन आँखो ने
केवल सूनापन पहचाना!
है इस जीवन का बोझ असह्य
मैं निर्बलता से चूर प्रिये!
उरु शंकित है, पग डगमग है
तुम मुझसे कितनी दूर प्रिये!

एकाकीपन ही अपनापन

मैं अपने से मजबूर प्रिये !

× × ×

अब असह अबल अभिलाषा का है

सबल नियति से संघर्षण ।"

'उत्साह' के मूल में यह 'शोक' तो बहुत स्वाभाविक और मंगलकारी दिखाई देता है, पर अन्य भावों के साथ प्रलाप सा बन जाता है। कुछ भी हो इस भावना से स्फुट कविताएँ तो हो ही रही हैं, साथ ही खण्डकाव्य और कवितामयी कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं। जहाँ आलम्बन विभाव पर विचार किया गया है वहाँ इसके अनेक उदाहरण आ चुके हैं।* अतः यहाँ एक भिन्न प्रकार का उदाहरण और देकर प्रकरण समाप्त किया जाता है—

"बता, कहाँ अब वह वंशीवट ?

कहाँ गए नट-नागर, श्याम ?

चल चरणों का व्याकुल पनघट

कहाँ आज वह वृंदा धाम ?

कभी यहाँ देखे थे जिनके

श्याम - विरह से तप्त शरीर"

कहना न होगा कि शोक की यह व्यंजना प्राचीन पद्धति की भाँति है—

---

* देखिए पीछे, पृष्ठ ४९।

"किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछते वे दृग - नीर ?
कहाँ छलकते अब वैसे ही
ब्रज - नागरियो के गागर ?"

—निराला

"सहस अठ्यासी स्वर्ण-पात्र में जेवायो ऋषि,
धर्मराज और के अधीन अन्न पावै है।
अर्जुन त्रिलोक को जितैया भेष बनिता के,
नाटक-सदन बीच नारिहिं नचावै है॥
राजा तू बकासुर हिडंब को करैया वध,
पाचक ह्वै विराट का रसोई पकावै है।
माद्री के सुजसधारी दोनो ही सुरूपमनि,
एक अस्व बीच एक गोधन चरावै है॥"

उपर्युक्त दोनो उद्धरणो से हृदय मे एक ही प्रकार की कसक का अनुभव होता है और हृदय आर्द्र होकर कोमल एवं संवेदनापूर्ण हो जाता है।

छायावादी कवियों मे निराला जी ने देश के दुःख-दारिद्र्य को लेकर जो कारुणिक चित्र खीचे※ उसे प्रगतिवाद ने बड़े जोश से ग्रहण किया। फलतः उससे एक काव्यधारा ही निःसृत हो चली और उसमे बहुत से नये-पुराने कवि बह चले। इसमें

※ उदाहरण के लिए कृपया दे० पृष्ठ ५३।

कृषको और श्रमिको के बहुत से सहज ग्राह्य और कारुणिक चित्र भी उतरे। किन्तु उलझी अनुभूतियों का प्रदर्शन ही जिस काव्य-साधना समझी जाती है उसमे सुलझे हुए चित्र कितने आ सकते हैं। हाँ, नये जीवन-दर्शन की दृष्टि से उनका मूल्य अवश्य है। पिछले पृष्ठो में इसके अनेक उदाहरण आ चुके है। यहाँ पर एक उदाहरण और देकर यह प्रसंग समाप्त किया जाता है—

"बाप बेटा बेचता है।

भूख से बेहाल होकर

धर्मधीरज प्राण खोकर

हो रही अनरीति बर्बर

राष्ट्र सारा देखता है। बाप बेटा बेचता है।

माँ अचेतन हो रही है

मूर्छना मे रो रही है

दाम के निर्मम चरण पर

प्रेम माथा टेकता है। बाप बेटा बेचता है।

शर्म से आँखें न उठती

रोष से छाती धधकती

और अपनी दासता का

शूल उर को छेदता है। बाप बेटा बेचता है"।

—केदारनाथ अग्रवाल

प्राचीन कविता मे क्रोध का मुख्य आलंबन शत्रु होता था। उसके अपराध से क्रोध का संचार होता था। उसके आ जाने

पर क्रोधी व्यक्ति अपने पूर्व गौरव का गान करने के लिए गर-जता तड़पता था। किंतु नवीन कविता मे हमारे ही व्यापार हमारे शत्रु हैं। इसलिए हमारे क्रोध की भी

प्राचीन और नवीन कविता मे क्रोध

सीमा नही है। आधुनिक कवि के क्रोध का कारण होता है लोक की दुर्व्यवस्था, अन्याय, अत्याचार का साम्राज्य। यदि वह दुर्व्यवस्था दूर नहीं होती है तो कवि संपूर्ण भूमंडल का और उसके साथ अपना भी नाश चाहता है। वह अन्यायी, अत्याचारी किसी शत्रु विशेष का ही क्षय नही चाहता, भले बुरे सबका विनाश देखना चाहता है। पर अपने बाहुबल के भरोसे नहीं—

"गगन पर घिरो मंडलाकार
अवनि पर गिरो वज्र सम आन
गरज कर भरो रुद्र - हुंकार
यहाँ पर करो नास का साज
मचे तांडव - नर्तन फिर आज
चुका ले महाकाल निज व्याज।"

—भगवतीचरण वर्मा

वस्तुतः क्रोध तो ऐसे ही मनोवेग को कहते हैं जिसमें भले बुरे का ज्ञान न रह जाए। पर संसार की जितनी वस्तुएँ हैं उनकी एक सीमा होती है। फिर क्रोध की क्यो न हो ? इसी विचार से परशुराम जी ऐसा क्रोधी अपने को संयत कर लेता था—क्रोध के आवेश मे उन्होने 'उलटौं महि' तो कह दिया परंतु

शीघ्र ही अपने को सँभाल लिया—'जहँ लगि तव राजू' कह कर निरपराधियों के जान-माल की रक्षा कर ली। यह तो हुई परशुराम और जनक की बात। लक्ष्मण के उलझने पर उनका क्रोध और भी बढ़ जाना चाहिए। किंतु, 'अकरुन कोही' होते हुए भी इतना कह सके—

"देख, ये कुठार क्रूर कर्म हैं अपार याके,
कै कै अपमान बिप्र जान इतरावै तू।
छत्रिन पतत्रिन ज्यों काटि की निछत्र मही
क्यों रे! छत्रिबाल भूलि काल हँकरावै तू॥"

इसमें कोई संदेह नहीं कि परशुराम हमारे सामने केवल क्रोधी ही के रूप मे आते हैं, सुधारक के रूप में नही। पर नवीन कविता के मूल में सुधार की भावना छिपी दिखाई देती है। परंतु इस प्रकार के क्रोध से लोक-हित की आशा कदापि नही की जा सकती। इससे न तो उस वेदना के आवेग का पता चलता है जो इस प्रकार के 'अमर्ष' के मूल मे छिपा रहता है और न तो हृदय को दहलाने वाले क्रोध का ही स्वरूप व्यक्त होता है। हाँ, 'कविता का उद्देश्य कविता है' इसका समर्थन भले हो जाता हो।

इसका यह अर्थ नही है कि नवीन कविता लक्ष्यविहीन होती है। यहाँ तो बात चल रही है प्रवृत्ति की। यों तो जिनके हृदय में सच्ची राष्ट्रीय भावना है, जिनके कान कातर स्वरों से भरे हैं,

जिनके नेत्रों ने अन्याय और अत्याचार का नृत्य देखा है उनकी कविता मे जीवन और यौवन स्पष्ट दिखाई देता है—

"क्रांति-धात्रि कविते जागे उठ
आडंबर मे आग लगा दे
पतन पाप पाखंड जले
जग मे ऐसी ज्वाला सुलगा दे !

विद्युत् की इस चकाचौंध मे
देख दीप की लौ रोती है
अरी हृदय को थाम, महल के
लिए झोपडी बलि होती है

देख कलेजा फाड कृषक
दे रहे हृदय शोणित की धारें
बनती ही उन पर जाती हैं
वैभव की ऊँची दीवारें

धन पिशाच के कृषक मेध मे,
नाच रही पशुता मतवाली
आगंतुक पीते जाते हैं
दीनों के शोणित की प्याली

उठ वीरो की भाव-रागिनी
दलितो के दल की चिनगारी
युग-मर्दित यौवन की ज्वाला
जाग जाग री क्रांति-कुमारी

लाखों क्रौंच कराह रहे है
जाग आज कवि की कल्याणी
फूट फूट तू कवि-कंठों से
बन व्यापक निज युग की वाणी"
—रेणुका से

राष्ट्रीयता की भावना से उद्भूत यह क्रांति-कांक्षी क्रोध आगे चलकर प्रगतिवाद की प्रवृत्ति विशेष माना गया और उस धारा के कविगण रूढ़ियों को ध्वस्त करने तथा परतंत्रता से मुक्ति पाने के लिए ही नहीं, वरन् ससार को वर्गविहीन बनाने, श्रमिको एवं कृषको को अभिजात कुल से संघर्ष लेने के लिए तैयार करने, ईश्वर तथा धर्म का नाम मिटाने, सस्कृति और सौदर्य सबधी भावना मे आमूल परिवर्तन करने के लिए दाँत पीसने लगे—

"क्या देखा है तुमने नर को नर के आगे हाथ पसारे
क्या देखे हैं तुमने उसकी आँखों मे खारे फव्वारे
देखे हैं–फिर भी कहते हो कि तुम नही हो विप्लवकारी
तब तो तुम पत्थर हो या हो महाभयंकर अत्याचारी
लपक चाटते जूठे पत्ते जिस दिन मैंने देखा नर को
उस दिन सोचा क्यो न लगा दूँ आज आग इस दुनिया भर को
यह भी सोचा क्यो न टेटुआ घोंटा जाय स्वयं जगपति का
जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृत का
भूखा देख तुझे गर उमडे आँसू नयनों मे जनजन के
तो तू कह दे नहीं चाहिए हमको रोनेवाले जनखे

तेरी भूख जिहालत तेरी यदि न उभाड सके क्रोधानल
तो फिर समझूँगा कि हो गई सारी दुनिया कायर निर्बल"

—नवीन

इन दाँत पीसनेवालो मे से बहुत ही कम ऐसे है जो नवीन जी के समान हृदय को दहला सके। अधिकांश कवि तो ऐसे हैं जो न भाव-चक्र की परवा करते और न चित्रण की संश्लिष्ट योजना की। फलतः उनकी कविता मे न उद्दीपन की सामग्री रहती न संचारियों का संचरण होता और न अनुभाव का पता लगता। कोरे सिद्धांत वाक्य जाकर विचारो से टकराते हैं। अचल जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ वे व्यक्ति भले ही समझ जायँ जो लोक की वर्तमान गतिविधि से परिचित हैं, किंतु उसमें व्यक्त किए गए क्रोध की पहुँच लोक-हृदय तक तो नहीं ही हो सकती—उसे तो वह क्रोध कल्पना ही प्रतीत होगा—

"आज भी जन जन जिसे करबद्ध होकर याद करते
नाम ले जिसका गुनाहो के लिए फरियाद करते
किंतु मैं उसका घृणा की धूल से सत्कार करता"

नवीन कविता मे प्रायः वे ही भाव मिलते हैं जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। अन्य भावो का अभाव-सा है। सौंदर्योपासना के युग में जुगुप्सा का तो नाम ही नहीं लिया

अन्य स्थायी भाव

जा सकता। हाँ, भय और आश्चर्य की व्यंजना रहस्यमयी उद्भावनाओ मे हो जाती है। रहस्यात्मक कविता में भय का स्वरूप बहुत ही शिथिल रहा है। उसकी

पृथक् स्फुट व्यंजना नहीं हो पाई है। उसमें प्राचीन कविता की भाँति कलेजे को दहला देने की क्षमता नहीं पाई जाती है। भय, आश्चर्य आदि को भी वह रति भाव के भीतर ही लेकर चली जिससे उसका पृथक् स्वरूप व्यक्त नहीं हुआ है। जैसे—

"भवसागर के तट पर अजान
सुनती हूँ वह कलरव महान,
एकाकी हूँ कोई न संग
उठती है रह रह भय - तरंग
केवल यौवन का भार लिए,
बैठी हूँ सूना प्यार लिए,
करते बादल हैं अश्रु - दान;
घन का सुनती गर्जन महान!
आती हैं तडित चिराग लिए;
बिछुड़ी स्मृति का अनुराग लिए।
सहसा कानों मे उषा-गान,
झनझना उठा छू शिथिल प्रान।
सागर की धडकन शांत हुई,
वह स्वप्न - वाटिका श्रांत हुई!
खिलखिला उठा जग एक बार,
आ पहुँचा मेरा कर्णधार!"

—चकोरी

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'खिलखिलाहट' के शब्द कान में पड़ते ही भय रफूचक्कर हो जाता है।

विस्मय आनंदात्मक भाव है। पर ऐसा ज्ञात होता है कि नवीन कवियो पर मिला-जुला प्रभाव पड़ा करता है। वे एक छोटी कली के अंदर सुषमा, सुगंध आदि के छिपे हुए रहस्यमय संसार को देखकर एक क्षण के लिए आनंदित होते है—

"मौन मुकुल मे छिपा हुआ जो
रहता विस्मय का संसार
सजनि ! कभी क्या सोचा तूने
वह किसका शुचि शयनागार?"

—पंत

पर शीघ्र ही विषाद से कह उठते हैं और उनके मुँह से निकल आता है—

"सजनि ! हमारा स्वप्न-सदन क्यों,
सिहर उठा सहसा थर थर
किस अतीत के स्वप्न अनिल मे
गूँज उठे कर मृदु मरमर।"

'निर्वेद' की रसवत्ता सर्व स्वीकृत न होते हुए भी निर्वेद को कवियों ने काव्य मे स्थान दिया है—संत कवियों को ही नहीं शृंगारी बिहारी को भी "यह जग काचो काच सों" दिखाई पड़ा है। नवीन कवियो ने भी खुल कर इसका ग्रहण किया है। पर प्राचीन और नवीन 'निर्वेद' मे एक बड़ा भेद लक्षित होता है। पहले वह जहाँ ब्रह्मज्ञान या देवोपासना की ओर ले जाता था वहाँ अब वह कवियों को 'महानाश' या मृत्यु-पूजा के लिए प्रेरित करता है—

"बन बन कर मिटना ही होगा,
जब कण कण मे परिवर्तन है
प्रम्भव है यहाँ मिलन कैसे
जीवन तो आत्म विसर्जन है
सत्वर समाधि की शैय्या पर
अपना चिरमिलन मना लूँगा।"

—सुमन

'मृत्यु-पूजा' और आत्महत्या की कामना मे कोई तात्विक अन्तर नही। मृत्यु-पूजा वस्तुतः नैराश्य की चरम सीमा है। किंतु इन मृत्यु पूजकों मे से बहुतेरे 'नवसंस्कृति' के निर्माण और काव्य को 'प्रगति' देने मे रत भी दिखलाई पड़ते है। फलतः उनके 'निर्वेद' की सचाई मे सन्देह हो उठता है। पर कहीं कही 'निर्वेद' का बहुत ही काव्योचित प्रयोग भी प्रगतिवादी कवियो मे मिलता है। 'कुरुक्षेत्र' का निर्वेद इसी कोटि का है। उसमे युधिष्ठिर के निर्वेद की पीठिका मे 'दिनकर' की वीर-भावना निखर आई है और काव्य को प्रसग-वक्रता के लिए अवकाश मिल गया है।

———

कलापक्ष

अब हम कविता के तीसरे पक्ष पर आते है। पहले कहा जा चुका है कि दृश्य जगत् के नाना रूप और व्यापार वन-उपवन, पशु-पक्षी, कीट-पतग, सुख दुःख, सुरूप-कुरूप, हित-अनहित इत्यादि मनुष्य के सम्पर्क मे आते है और उन सबके चित्र स्वतः उसके मतिष्क मे अंकित होकर अदृश्य रूप से वहॉ पड़े रहते है। इतना ही नहीं, दृश्य जगत् के देखने से उसके प्रति मनुष्य के हृदय मे कुछ मनोविकार भी उत्पन्न होते है। ये मनोविकार अवसर विशेष पर इतने उद्दीप्त हो जाते है कि उन्हे अपने हृदय तक रखना उसके लिए दुष्कर हो जाता है तब वह अदृश्य चित्रों को गोचर रूप देकर अपने मनोविकारों को दूसरो पर व्यक्त करना चाहता है। पर सीधे सीधे उन्हें व्यक्त करने मे उसे सन्तोष नही होता अथवा यो कहे कि वह ऐसा कर ही नहीं सकता। इसके दो कारण है—(१) उसके हृदय के भाव इतनी तीव्रता से उत्पन्न होते हैं कि उसे आशंका होती है कि वह सीधे सीधे कहने मे अपने भावों का स्वरूप सम्यक् प्रकार से न प्रकट कर सकेगा,

कला क्या है?

वस्तु विशेष का जैसा प्रभाव उसके हृदय में पड़ा है वैसा उसके श्रोता पर न पड़ सकेगा; (२) मनुष्य आदि-काल से सौन्दर्योपासक प्राणी है। वह कुरूप से कुरूप वस्तुओं मे भी सौंदर्य का विधान करता चलता है। अतः वह अपने उद्दीप्त भावो को सुन्दरतापूर्वक व्यक्त करना चाहता है। इन दोनों बातो के लिए वह जो योजना प्रस्तुत करता है वह कविता का कलापक्ष है। इस प्रकार प्रेषण-पद्धति (अभिव्यंजना) कविता का कला पक्ष ठहरती है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे दो प्रश्न उठते हैं—(१) मनुष्य अपने मस्तिष्क मे स्थित जिन चित्रो को गोचर रूप देता है वे प्रकृति-खड के अनुकरण-मात्र होते है अथवा उनमे और प्रकृति के रूपो मे कोई अंतर होता है ? (२) यदि अभिव्यंजना कला है तो उसका क्षेत्र क्या है ? क्या सब प्रकार की अभिव्यंजना कला के अंतर्गत आ सकती है ? प्रस्तुत विषय पर आने के पूर्व उक्त दोनो प्रश्नो पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है क्योकि आजकल कला की बड़ी चर्चा है और उसकी ओट मे काव्य के प्रकृत स्वरूप की हत्या सी हो रही है।

प्रथम प्रश्न के उत्तर के लिए साहित्य-शास्त्रियो का मत लीजिए। इसके अनुसार काव्यानंद या कलागत आनंद, ब्रह्मानंद सहोदर अथवा अलौकिक आनंद है। अतः कलागत आनंद प्राकृतिक सौंदर्य से उद्भूत आनंद से अवश्य भिन्न हुआ। इस प्रकार

काव्यानुभूति तथा

प्रत्यक्षानुभूति उन्होंने दोनो में अंतर स्पष्ट स्वीकार किया है।

यदि साहित्य-शास्त्रियों की लीक पीटने वाले न भी बनें तब भी स्थूल रूप से देखने पर दोनों प्रकार की अनुभूतियो में अंतर दिखाई पड़ता है। सड़े गले बीभत्स दृश्यों का देखना हमें नहीं पसन्द है पर काव्य में वे ही दृश्य इतने अरुचिकर नही होते। इस प्रकार कला की अनुभूति एक भिन्न प्रकार की अनुभूति प्रतीत होती है पर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि दोनो मे तात्त्विक अंतर नही है। जो अंतर दिखाई पड़ता है वह इस कारण कि कला या काव्य की अनुभूति सदा आनंद-स्वरूप मानी जाती है, पर भावानुभूति सुखात्मक और दुःखात्मक दोनो रूपो में मिलती है। कहना न होगा कि इस धारणा मे आंशिक सत्य है। यदि कला की अनुभूति सदा आनद-स्वरूप ही हो तो कारुणिक दृश्य काव्य में पढ़ने, सुनने अथवा देखने से आँसू न आते। अस्तु, कलाजन्य अनुभूति और प्राकृतिक अनुभूति में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है। जब अनुभूतियो में अंतर नहीं है तो उनके आधारो प्रकृति-खंड और कलाकार के चित्र में भी कोई अन्तर न होना चाहिए। इस प्रकार कलाकार का दिया हुआ गोचर चित्र प्रकृति-खंड का अनुकरण-मात्र ठहरता है।

यहाँ पूछा जा सकता है कि जब प्रकृति और कलाओं मे विभेद नहीं तो फिर कला की आवश्यकता ही क्या? इसका साधारण उत्तर तो यह हो सकता है कि "प्रकृति

साधारण जनो के लिए बिखरी हुई, प्रसरित और विशृंखल सी है, परन्तु कला मे उसे संयम, मर्यादा तथा शृंखला मिलती है।

कला और प्रकृति

प्रकृति की अनुभूति कोई एकांत अनुभूति नही होती पर कला की अनुभूति एकांत होती है, उसमे एक प्रकार की पूर्णता होती है जो साधारण दर्शकों को प्रकृति मे नहीं देख पड़ती।" किंतु इतने से पूर्ण समाधान नही होता। सच तो यह है कि कलाकार संसार मे जो सौंदर्य देखता है उसे फिर से देखने, सुनने या अनुभव करने की उसे इच्छा होती है इसके लिए वह सौंदर्य की सृष्टि करता है। यही सौन्दर्य की सृष्टि कला है। पर इस सृष्टि के लिए सामग्री की आवश्यकता होती है जो उसे प्रकृति से मिलती है। वह अपनी कल्पना के बल पर उस उक्त सामग्री को अपने समक्ष रखता है और उससे एक ऐसी सृष्टि करता है जो प्रकृति-खंड का चित्र होते हुए भी उससे भिन्न होती है। अतः कलाकार की कृति प्रकृति का अनुकरण मात्र नहीं है। हॉ, वह उससे इतनी विच्छिन्न भी नहीं है कि वह आकाश से टूटी हुई कोई अलौकिक या अपरिचित अथवा अद्भुत वस्तु बन जाय। जब कलाकार किसी वाटिका का चित्र खीचता है तो वह किसी वाटिका विशेष की अनुकृति उठाकर नही रख देता। पहले वह अपनी कल्पना द्वारा उन अनेक वाटिकाओ का चित्र अपने सामने लाता है जिससे वह किसी न किसी प्रकार परिचित होता है, जो उसके संचित

ज्ञान-भांडार की सामग्री होती है। उन वाटिकाओं में बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हो सकती है जो, कम से कम उसकी दृष्टि से दोष-पूर्ण अनुचित अथवा अवांछित हो या उसकी सौंदर्यानुभूति के मेल में न पड़ती हो, कलाकार। उन सबका त्याग करता जाता है और प्रत्येक वाटिका के वांछित उत्तमांश का संग्रह करता जाता है। इस प्रकार वह एक नई वाटिका की सृष्टि करता है। कलाकार की यह वाटिका न तो किसी वाटिका की अनुकृति ही होगी और न ऐसी अद्भुत ही कि जिसे पहचानने के लिए द्राविड़ी प्राणायाम करना पड़े। उसका यह विधान 'कलाकार की कल्पना का आदर्श-विधान करना' कहलाता है। इसी विधान के कारण कलाकार प्रकृति का आलोचक और स्रष्टा कहलाता है। जिसमे यह विधायक प्रतिभा नही, अनुकरण ही अनुकरण है वह सच्चा कलाकार नही। कलाकार मे कल्पना की विधायक शक्ति की जितनी आवश्यकता है उतनी ग्राहक शक्ति की भी। ग्राहक शक्ति द्वारा वह जगत् की बिखरी हुई वस्तुओ से अपने रूप विधान के लिए सामग्री एकत्र करता है। इन वस्तुओं में जो उसके काम की नही होती उनका वह त्याग करता जाता है और अभीष्ट वस्तुओ का चयन करता चलता है। जिसमें जितनी ही सारग्राहिणी प्रतिभा होती है वह वस्तु-चयन मे उतना ही सफल होता है। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि जिस कलाकार में कल्पना की समाहार शक्ति जितनी ही अच्छी होगी उतनी ही अच्छी सामग्री यह कल्पना की विधायक शक्ति को दे सकेगा।

इन दो शक्तियो में से किसी के भी अभाव में कलाकार की कृति में कूड़ा-करकट आ जाना अवश्यंभावी है। हाँ तो, वह अपनी इस आदर्श विधायक कल्पना द्वारा भिन्न भिन्न प्रकृति-खंडो के दोषो को दूर करता, अभावों की पूर्ति करता और सामान्य रूपो एवं व्यापारो से सौंदर्य का विधान करता है। इस प्रकार उसका मस्तिष्क रूपो अथवा व्यापारो का एक चित्र उपस्थित करता है और यही चित्र वह कला द्वारा हमारे समक्ष रखता है, कोई वस्तु विशेष या व्यापार विशेष नहीं। सारांश यह कि कला द्वारा उपस्थित किया हुआ रूप अथवा व्यापार प्रकृति-खंड के दृश्यो या व्यापारो का अनुकरण होते हुए भी नवीन, मौलिक, विशिष्ट एवं पूर्ण होता है। इसलिए पाश्चात्य देश के आचार्य अरस्तू साहब कला को प्रकृति का अनुकरण ही नहीं मानते, उसका पूरक भी मानते है।* इस अर्थ में तो कला की सत्ता स्वतत्र प्रतीत होती है, उसकी दुनिया निराली दिखलाई देती है।

यहाँ तक तो डा० ब्रैडले का यह कथन कि "उसकी (कला की) तो दुनिया ही निराली है—वह एकांग, स्वतः पूर्ण और स्वतंत्र है।"† समझ में आता है। पर उसे अर्थवाद के रूप में

---

* The art besides imitating nature also completes nature's unfinished designs

—Principles of Criticism

†······ · its nature is to be not a part. nor yet a copy of the real world··· ····· · but to be a world by itself independent, complete, autonomous,

—Oxford Lectures on Poetry, p 5

न लेकर सिद्धांतवाद के रूप मे लेना, उसे प्रत्यक्ष जगत् का न अंग समझना, न अनुकृति और न उसे किसी काम का मानना— केवल हवाई बना डालना इतर कलाओ के संबंध मे चाहे बहुत अनुचित न हो किंतु काव्य के संबध में अहितकर और अवांछनीय है। अन्य कलाओ में प्रायः अनुरंजन करने वाले सौंदर्य-विधान की ही आवश्यकता होती है, जगत् या जीवन की किसी वास्तविक दशा, स्थिति या तथ्य की नही। पर कविता जगत् और जीवन से अलग नहीं की जा सकती। उसकी अनुभूति सौंदर्यानुभूति के ही रूप मे नही होती, वह हृदय के भावो—प्रेम,करुणा, उत्साह इत्यादि को लेकर चलती है। भाव-जगत् के परिचित व्यक्ति या वस्तु के ही प्रति हो सकते है, किसी अपरिचित व्यक्ति या वस्तु के प्रति नहीं। यह दूसरी बात है कि वे प्रत्यक्ष जगत् से होते हुए परोक्ष जगत् की ओर भी उन्मुख हो जायँ। पर जहॉ कही भाव की स्थिति होगी वहॉ किसी न किसी रूप मे दृश्य जगत् अवश्य होगा। अतः कविता को जगत् से अलग कहना आडंबर के अतिरिक्त कुछ नही कहा जा सकता। उपादेयता की दृष्टि से देखें तो भी उसे हम जगत् और जीवन से अलग नहीं पाते। यदि कविता जीवन से अलग हुई होती तो मानव-समाज की वृत्तियॉ इतनी तीव्र और संस्कृत कदापि न होती। मानव-हृदय को परिष्कृत तथा उदात्त बनाने का श्रेय कलाओं को—विशेषतः कविता ही को है। अन्य देशो की बात नहीं कही जा सकती, पर भारत में कविता जीवन से भिन्न कभी नहीं रही। यदि वह जीवन से भिन्न होती तो भरत से लेकर आज तक औचित्य की भावना

काव्यतत्वों की मूल भावना कदापि न मानी जाती। भारतीय साहित्यकार औचित्य के बिना किसी काव्य-तत्व को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। वे इसके बिना न तो रस में सर-सता स्वीकार करते और न ध्वनि की महत्ता। हमारे यहाँ साहित्य शास्त्रियो ने काव्यगत आनद को ब्रह्मानंद सहोदर कहकर अर्थवाद के रूप मे उसकी स्वतंत्र सत्ता अवश्य स्वीकार कर ली है और इस प्रकार कविता को 'कविता कविता के लिए' वाले सिद्धांत के समक्ष अवश्य ला दिया है, परंतु उन्हींने ब्रैडले या क्रोचे संप्रदाय की भाँति उसे खिलौना बनाकर जीवन से अलग नहीं किया है। उन्होने काव्यानंद (रस) को ब्रह्मानंद सहोदर इसलिए कहा है कि जिस प्रकार ब्रह्मानंद मनुष्य को उसके संकुचित व्यक्तिगत घेरे से ऊपर उठा देता है, वह दृश्य जगत् को अपने हानि-लाभ, सुख-दुख इत्यादि की दृष्टि से नहीं देखता, अपनी व्यक्तिगत सत्ता को उसमे भुला देता है, उसी प्रकार रसदशा मे वह व्यक्तिगत घेरे से ऊपर उठ जाता है, उसकी अलग कोई स्वतंत्र सत्ता नही रह जाती। पर रसदशा मे पहुँचने के लिए कविता से प्राप्त अनुभूति का सामजस्य जीवन से प्राप्त सत्-असत् की भावना से अवश्य होना चाहिए। जहाँ पर सामं-जस्य नही होता वहाँ रस की निष्पत्ति नहीं होती, अधिक से अधिक रसाभास हो जाता है। जो प्रेम-व्यंजना उपयुक्त आलंबन के संबंध से रसदशा तक पहुँचती है वही अनुपयुक्त आलबन के संबंध से रसाभास तक ही रह जाती है। गुरु-पत्नी के साथ किसी

शिष्य के प्रेम की व्यंजना चाहे जितनी उच्च हो पर वह रसावस्था तक कदापि नहीं पहुँचेगी, वह रसाभास तक ही रहेगी क्योंकि उस रति मे अनौचित्य है। इस प्रकार रससंप्रदाय वालो ने कविता को जीवन से अलग नही माना है। वस्तुतः (प्रसिद्ध समालोचक आचार्य पं० रामचद्र जी शुक्ल के शब्दों में) कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के शुद्ध रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह तथा उसके हृदय का प्रसार और परिष्कार होता है। वह मनुष्य के हृदय की अनुभूति ही है जो मनुष्य के ही हृदय मे पहुँचाई जाती है। अतः मनुष्य के साथ उसका संबंध नित्य है। मानव-जीवन से असंबद्ध उसका कुछ मूल्य नही।

उपर्युक्त विवेचन से दूसरे प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट हो जाता है। सब प्रकार की अभिव्यंजना कला के अतर्गत नही आ सकती, वही अभिव्यंजना कला के अंतर्गत आ सकती है जिसमे कलाकार के मनोविकार का योग हो। जहाँ पर कलाकार की कल्पना काम नही करती वह कला के अंतर्गत नही आ सकती। अर्थबोध कराना मात्र कला का काम नही है। इस प्रकार दार्शनिक सिद्धांत, वैज्ञानिक वर्गीकरण, नियम-निरूपण इत्यादि कला के क्षेत्र के बाहर की वस्तुएँ हैं यद्यपि उक्त सब बातें इस प्रकार सजाकर रखी जा सकती है जिसमे कला के लक्षण हो। इस प्रकार कला का क्षत्र अपरिमित हो जाता है, पर उसके इस अपरिमित

काव्य मे कला का स्थान

क्षेत्र के कारण कविता को कला के अंतर्गत मानना उचित नहीं है। कविता का क्षेत्र कला से अधिक विस्तृत है। कला केवल सौन्दर्यानुभूति कराती है। कविता सौन्दर्यानुभूति के साथ साथ भावानुभूति में भी लीन करती है। कारुणिक से कारुणिक चित्र या मूर्ति देखकर भी दर्शक "वाह वाह" ही करता है, उसकी आँखें आँसू से आर्द्र नहीं होतीं। किन्तु काव्य-गत कारुणिक दृश्य पढ़, सुन या देखकर न जाने कितने फूट पड़ते हैं—आँसुओं की झड़ी लग जाती है। इतना ही नहीं, कला का प्रभाव क्षणिक होता है, पर कविता के प्रभाव मे क्षिप्रता के साथ साथ स्थायित्व भी है। कला द्वारा किसी के व्यक्तित्व में परिवर्तन होते देखा सुना नहीं गया। पर चारणो की ओज-पूर्ण कविताएँ जाने कितने कायरों को रण के लिए सज्जित कर चुकी है। "अली कली ही में बिध्यो, आगे कौन हवाल" की कथा कौन नहीं जानता। इस प्रकार कविता में सौंदर्यानुभूति कराने भर की ही क्षमता नहीं होती, वरन् उसके साथ ही साथ वह भाव का प्रवर्तन तथा संचरण भी करती है। सच तो यह है कि कविता के मूल, प्रभाव तथा परिणाम सबके साथ भाव लगा रहता है। और भाव मानव-जीवन के नियामक हैं। फिर उसके योग-क्षेम, आचार-नीति, विद्या-बुद्धि से कविता कैसे निरपेक्ष की जा सकती है? अस्तु, उसके मूल्य को हम कला की भाँति केवल सुन्दर शब्द से ही व्यक्त करके सन्तोष नहीं कर सकते। हमें उसके सत्य और शिव पक्ष को भी देखना ही पड़ता है। जीवन-शोधन

की ही दृष्टि से क्षेमेंद्र ने कहा है "औचित्यं रस सिद्धस्थ स्थिरं काव्यस्य जीविनम्।" "वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्" के प्रबल प्रवर्तक कुंतक तक ने काव्य को मानव जीवन मे कल्याणकारी, स्फूर्तिदायक और मंगलमय स्वीकार किया है। जब तक कविता मे कवि, कृति और ग्राहक तीनो को महत्व दिया जायगा तब तक उससे 'सत्य' और 'शिव' निकाला नही जा सकता। हाँ, जो उसमे ग्राहक को किसी प्रकार का स्थान देने के लिए तैयार नहीं, वह कह सकता है कि कवि कविता मे अपनी कल्पना को शब्द तथा अर्थ देकर साकार करता है, वह उससे उत्पन्न मंगल या अमंगल का प्रभाव देखने नही जाता।

पर "स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबद्ध मति मंजुल मातनोति" के कारण महात्मा तुलसीदास को इस श्रेणी मे घसीटना ठीक उसी प्रकार होगा जिस प्रकार "कवित विवेक एक नहि मोरे, सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे" के आधार पर उन्हे कवियो की श्रेणी से निकालकर मूर्खों में गिनना। "स्वांतः सुखाय तुलसी" केवल कवि को दृष्टि में रखकर कहा गया है और वह भी उस विनयशीलता के कारण जो तुलसी के व्यक्तित्व का अभिन्नांश है। कवि के साथ साथ जहाँ उनकी दृष्टि कृति और ग्राहक पर भी है वहाँ वे स्पष्ट कहते हैं—

"जो प्रबंध बुध नहि आदरहीं।
सो श्रम बादि बाल कवि करहीं॥

कीरति भनिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई॥"

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि कवि सौंदर्य-विलासी रूपरचयिता मात्र नही है और न कविता तथा कला एक वस्तु है। कविता मे कला पक्ष है अवश्य, पर कविता को कला नहीं कहा जा सकता। कविता मे कला बाह्यांग है। कला अभिव्यंजना है और काव्यमें कर्ता की दृष्टि से जो अभिव्यंजना है वही ग्राहक की दृष्टि से प्रेषण पद्धति है। अस्तु, प्रेषण पद्धति ही कविता का कलापक्ष ठहरती है। पर प्रेषण-पद्धति काव्य का साधन मात्र है, साध्य नही। अतएव कला भी कविता का साधन हुई। उसे साध्य मान बैठना, अप्रस्तुत-विधान मे ही कविकर्म की सफलता समझना कविता के क्षेत्र को संकुचित करना है। इस धारणा से कविता केवल कौतूहल का विषय रह जाती है जिससे अनुरञ्जन-मात्र हो सकता है, स्थायी प्रभाव या संस्कार की आशा नहीं की जा सकती। कविता को कला कहना उसी प्रकार है जैसे केवल शरीर या प्राण को प्राणी कहना। यदि किसी की दृष्टि इतनी सूक्ष्म नही है कि शरीर और प्राणी में भेद कर सके तो वह कविता को कला कह सकता है। पर हमारे सूक्ष्मदर्शी आचार्यों ने सदा भेद माना है* और सदा भेद रहेगा।

---

* न तच्छब्दो न तद्वाच्यं न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्यांग महोभारः महान् कवेः॥

—भामह

वर्तमान काल मे क्रोचे का अभिव्यंजनावाद कविता का आदर्श बना जिससे छायावादी कही जाने वाली कविता पूर्णतया प्रभावित हुई। फलतः उसमे कविता और कला का भेद दूर करने का प्रयत्न किया गया। उसके बड़े बड़े भावुक कवि तक कलाकार कहलाने मे गौरव समझने लगे और उनकी कृति सौदर्य की साधना मानी जाने लगी। इस साधना में संलग्न होने के कारण प्रकृति-खंड का प्रकृत चित्रण उन्हे उतना रुचिकर न हुआ जितना अपनी भावुकता से उसे रँगना उन्हें प्रिय लगा। 'पल्लव' के पंत की सौंदर्य-भावना और कोमल कल्पना "भादो की भरन" मे पर्वतीय पवन को वृक्ष झकझोरते हुए नही देख पाती ओर न उनका झरझराना सुन पाती। वह उसे वंशी बजाते हुए गड़रिए के रूप मे देखती है। दिल दहलानेवाली घटा उन 'मेघो के बाल' के सामने छिप जाती है जो पर्वत प्रदेश में फुदक फुदक कर चरने लगते है। श्वेत लोमाच्छादित मेमनो का यह विलास हृदय मे पूरा पूरा अंकित नही होने पाता कि बादल बहुरूपिया बन कर कभी द्विरद-दंत होकर निकल आते हैं, कभी पानी छिड़कती हुई सूड़ बन जाते है, कभी गज मस्तक की रेखा रचना और कभी कामदार झूलती हुई झूल। इतना ही नहीं, गगन-स्पर्शी विशाल पर्वत रँगे-चँगे हाथी के आड़ मे आ जाता है—

वर्तमान काल की कविता और कला

. . . .

× × ×

"शिखर पर विचर मरुत-रखवाल
वेणु में भरता था जब स्वर,
मेमनों-से मेघों के बाल
फुदकते थे प्रमुदित गिरि पर!
द्विरद दन्तों से उठ सुन्दर,
सुखद कर - सीकर - से बढ़कर,
भूति-से शोभित बिखर बिखर,
फैल फिर कटि के से परिकर,
बदल यों विविध-वेश जलधर
बनाते थे गिरि को गजवर!"

कहने की आवश्यकता नहीं कि पंत जी ने

"कबहुँ प्रबल चल मारुत, जहँ तहँ मेघ बिलाहिं।
... ...
कबहुँ दिवस मह निविड तम, कबहुँक प्रगट पतंग।"

को अपनी भावना से रँग कर उसकी जो नूतन सृष्टि की है उसमें प्रकृति व्यापार के प्रकृत रूप के प्रत्यक्षीकरण का प्रयत्न नहीं है प्रत्युत उसमें 'सौंदर्य-शास्त्र' की कला का सुन्दर प्रदर्शन है। पंत की कोमल कल्पना से विविध रूप में रँगे हुए बादल सर्वसामान्य के भावों के प्रकृत आधार नहीं बन सकते। वे सर्वसाधारण की कल्पना में मेमनों के रूप में कठिनाई से ही आएँगे। इसी प्रकार 'छाया' 'स्याही की बूँद' 'बीचि विलास' 'नक्षत्र' आदि की कलाबाजी हमारे हृदय में कुतूहल ही उत्पन्न करती है, वह हमें 'भाव

योग' में लीन नहीं करती। इनमे कलाकार की सौंदर्य-भावना को विचरने की पूरी सामग्री है, किंतु कवि की उस वृत्ति को रमने के लिए प्रकृति का वह बिब नही जो गांभीर्य और गौरव की तलाश मे रहती है।

प्रगतिवादी कविता मे कला सम्बन्धी भावना बिलकुल बदल गई। कविता सामान्य जन-समूह की वस्तु मानी गई और उसमें आत्माभिव्यक्ति का स्थान सामाजिकता ने—उस सामाजिकता ने—लिया जो किसान-मजदूर तक ही सीमित है। व्यक्ति-वैचित्र्य, परम्परा से चली आती हुई सौंदर्य-भावना, भावात्मकता इत्यादि असामाजिक कही जाने लगी। छायावादी कविता ने क्रोचे का 'सौंदर्य-शास्त्र' लेकर अपने को जितना ही सजाया और वैयक्तिक बनाया उतना ही प्रगतिवादी कविता ने काडवेल की 'भ्रम और वास्तविकता' का पल्ला पकड़ कर सामाजिक बनाने का असफल प्रयत्न किया। छायावादी कविता में अभिव्यंजना (चमत्कार) का जितना ही आग्रह है, प्रगतिवाद मे उतना ही उसके त्याग का प्रयत्न है*। फलतः इस प्रवृत्ति की कविता सरलता की अतिशयता से प्रायः इतनी कला-शून्य हो गई कि उसे कविता कहा ही नहीं जा सकता, देखिए—

---

*ज्योतित कर जन मन के जीवन का अधकार
... ...
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हे क्या अलंकार
—पत

धीरज और अधीरज क्या है
कारज से बढ धीरज क्या है
पाटो पाटो पाटो धरती
काटो काटो काटो करबी
काटो काटो काटो करबी
मारो मारो मारो हँसिया

—केदार

इस प्रकार की कविताएँ प्रेषण-पद्धति की अनर्गलता या अभिव्यंजना के मूल सिद्धान्तों के तिरस्कार के कारण अभिप्रेत भाव अथवा विचार का संवेदन कराने मे असमर्थ रहती है। उन्हे पढ़ या सुनकर कवि के अभिप्रेत भाव से भिन्न भावना का ही उदय होता है। उसके कवि कविता मे जिस व्यक्तिवैचित्र्य का विरोध करते हैं वह उनकी नवीनता की धुन मे उतना ही लद जाता है और सामान्य भाव-भूमि से सर्वथा बाहर चला जाता है। ऊपर की पंक्तियाँ उद्बोधन के लिए लिखी गई है और उसके मूल में कवि की आकुलता है। पर उसे पढ़ कर जोश के स्थान मे हँसी आती है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि जिस प्रकार कविता को कला-मात्र मान लेने से कविता का प्रकृत रूप दब जाता है उसी प्रकार कला की मान्यताओं का तिरस्कार करने से उसकी हत्या हो जाती है। कविता में कला उसका बहिरंग-विधान अवश्य है पर वह ऐसा नहीं जिसकी उपेक्षा की जा सके। उसके बिना काव्यात्मा की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती।

कविता मे कला-पक्ष का विचार अलंकार, वृत्त और रीति द्वारा होता है। अतः इन्ही आधारों को लेकर यहाँ हिंदी की प्राचीन और नवीन कविता पर विचार किया जायगा।

कविता मे अलंकार का स्थान

सबसे पहले अलंकार को लीजिए। इसका काव्य मे क्या स्थान है, इसका पता इसी से लग जाता है कि काव्यशास्त्र को अलंकारशास्त्र भी कहते हैं—मानो अलंकार काव्य का पर्याय है। फिर क्या आश्चर्य यदि कहा जाय कि अलंकार विहीन काव्य उष्णताहीन अग्नि है।* पर इसे अर्थवाद में ही ग्रहण करना चाहिए, सिद्धान्त रूप मे नही। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि कविता मे अलंकार का बहुत बड़ा महत्व है। इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि वह कविता का साध्य है। है वह साधन ही चाहे वह काव्य मे कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो। अलंकार काव्य के शोभा-धायक गुण हैं न कि काव्य की आत्मा। अलकारो से काव्य-शोभा का उत्कर्ष होता है जिस प्रकार आभूषणों से रूप-शोभा की श्रीवृद्धि होती है। अब प्रश्न यह होता है कि क्या काव्य मे अलंकारो की भी वही पृथक सत्ता है जो शरीर मे आभूषणों की। जब—

---

* अङ्गीकरोति यः काव्य शब्दार्थावनलकृती:
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनल कृती

—चन्द्रालोक

"अलि हौं तो गई यमुना जल को
सो कहा कहौं वीर! विपत्ति परी
घहराय कै कारी घटा उनई
इतनेई मे गागर सीस धरी
रपट्यो पग घाट चढ्यो न गयौ
कवि 'मंडन' ह्वै के विहाल गिरी
चिरजीवहु नंद को बारो, अरी,
गहि बाँह गरीब ने ठाढी करी"

जैसे छंद देखते हैं जिसमें प्रस्तुत के अतिरिक्त अप्रस्तुत का चिह्न तक नहीं है, बात ज्यों की त्यों रख दी गई है, फिर भी भाव की स्वाभाविक व्यंजना मे कोई कमी नहीं है तब कैसे कहा जाय कि अलंकार काव्य का कोई नित्य अंग है। उत्प्रेक्षा, उपमा. रूपक अलंकारो पर विचार करने से भी यही लक्षित होता है कि अलंकारों की काव्य में पृथक् सत्ता है। पर जब—

"बीच बास करि जमुनहि आए
निरखि नीर लोचन जल छाए"

में 'स्मरण' अलंकार की स्थिति देखते हैं तब अलंकारों की स्थिति आभूषणों की भाँति मानते नहीं बनता। इसका सौंदर्य तो वैसा ही है जिस प्रकार यौवनागम से शारीरिक सौंदर्य। उक्त पद में स्मरण अलंकार की स्थिति ही है जो 'लोचन जल छाए' के वाच्यार्थ तक पहुँचाती है और उसी के कारण 'विषाद' की व्यंजना होती है। फिर सब अलंकारों को ऊपर से पहनाए हुए आभूषणो के

समान काव्य से सर्वथा पृथक् मानना ठीक नहीं। जहाँ काव्य का रूप अलंकार का आधार लेकर खड़ा होता है, जहाँ वचन वक्रता में ही काव्यत्व होता है वहाँ वे एक दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते। पर साधारणतया अलंकारो का विधान वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने और भावना को तीव्र करने के लिए की जाती है।* ऐसी स्थिति में उनकी पृथक् स्थिति मानना ही ठीक है। यदि ऐसा न होता तो काव्य में अलकारो का आधिक्य खटकने की बात न होती। अलंकार बाहर से लाई हुई वस्तु है इसलिए वे उतनी ही सीमा तक अभीष्ट है जहाँ तक वे भार से प्रतीत नही होते। जहाँ उनका आधिक्य हुआ अथवा वे औचित्य के बाहर गए कि काव्य का स्वरूप नष्ट हुआ। अस्तु काव्य मे अलंकार का विधान बहुत आवश्यक है अवश्य, पर वह उसका नित्य अग नहीं है। अलंकार शब्दार्थ के भूषणमात्र हैं।

---

* "वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढा कर दिखलाना पडता है; कभी उसके रूप-रग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप रग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मवाली और वस्तुओ को सामने लाकर रखना पडता है। कभी कभी बात को घुमा-फिरा कर भी कहना पडता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढग अलकार कहलाते है"

—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल

यदि कवियो के अलंकार-विधान पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि अधिकांश अलकारो का आधार साम्य है। साम्य का चमत्कार दिखाने के लिए कभी कभी तो सदृश वर्णों, सदृश शब्दो या सदृश वाक्यों को ही लेकर अलकारो की योजना कर ली जाती है। पर इस प्रकार के अलकारो का काव्य मे विशेष महत्त्व नही है। इनके द्वारा काव्य में एक प्रकार का चमत्कार आ जाता है जिससे चमत्कृत होकर हम कवि की कारीगरी पर थोड़ी देर के लिए मुग्ध हो जाते है, हमारे हृदय में आनदानुभूति का उद्रेक हो जाता है, पर वह न तो गंभीर होता है और न स्थायी। किंतु जो अलंकार-विधान रूप (आकार) और धर्म (गुण और क्रिया) के साम्य को लेकर चलता है वह अवश्य काव्योचित होता है। हाँ यहाँ भी एक सावधानी की आवश्यकता होती है। कविता का लक्ष्य केवल वस्तु-बोध कराना ही नहीं है वरन् भावोत्कर्ष कराना भी है। अतः यदि साम्य किसी वस्तु की जानकारी कराने भर के लिए न हुआ, प्रस्तुत भावना विशेष को जगाने वाला हुआ तो उस साम्य का मूल्य काव्य में बढ़ जाता है। पर यह तभी सम्भव है जब इस साम्य के मूल मे प्रभाव-साम्य छिपा हो। इस प्रकार अलंकार-विधान में प्रभाव-साम्य सबसे महत्वपूर्ण बात ठहरती है।

अलकार-विधान मे साम्य

प्राचीन हिंदी-कविता में प्रायः सभी साम्यों को लेकर कविता की गई है। शब्दो के साम्य पर यदि किसी को कारीगरी देखना

अभीष्ट हो तो वह केशव की 'रामचंद्रिका' उठाकर देख ले। पृष्ठ पृष्ठ पर शब्दो की कारीगरी भरी पड़ी है। कहीं 'श्लेष' अपनी छटा दिखलाता है तो कहीं पर 'यमक'। कहीं 'परिसंख्या' की बहार है तो कही 'विरोध' की। कहाँ तक कहे सब जगह शब्द-चमत्कार ही तो है। पर सौभाग्यवश इस प्रकार के पंडित कवि बहुत कम हुए। अधिक संख्या उन्ही की रही जो चमत्कार को कविता में गौण स्थान देते हैं।

प्राचीन और नवीन कविता मे अलकार विधान

कुछ कवि ऐसे भी दिखाई देते हैं जो भावोत्कर्ष की ओर ध्यान तो रखते ही हैं पर चमत्कार को भी नहीं छोड़ सकते। इस प्रकार के कवियों की रचना दो विभिन्न कोटियो मे स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं-(१) शब्द-कौशल दिखलानेवाली और (२) रसात्मक।

"तो पर वारौ उरबसी, सुनु राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी - समान॥"

—बिहारी

म 'उरबसी' के चमत्कार के अतिरिक्त और क्या है? पर निम्न-लिखित दोहे में चमत्कार की प्रधानता नहीं रसात्मकता है।

"सटपटाति सी ससिमुखी मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक-झर सी झमकि कै गई झरोखे झाँकि॥"

—बिहारी

इस प्रकार कुछ कवियो मे चमत्कार दिखलाने वाली तथा रसात्मक रचनाएँ अलग अलग हो गई हैं। पर जो कवि-कर्म

को खिलवाड़ नहीं समझते, जो अपनी काव्य-प्रतिभा का अपव्यय दूर की कौड़ी लाने में नहीं करते, जो भावोद्रेक द्वारा परिचालित अंतर्वृत्ति के अनुरूप अप्रस्तुत-विधान सामने लाते हैं वे चमत्कार का उपयोग भावोत्कर्ष में ही करते आए है—

"निरखत अंक स्यामसुंदर के बार बार लावत छाती
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती"

—सूरदास

"प्रमोद्रेक की तीव्रता व्यजित करने के लिए 'अंक' और 'श्याम' शब्दो में श्लेष कैसा काम कर रहा है। पत्री पाकर वैसा ही प्रेम उमड़ा जैसा कृष्ण को पाकर उमड़ता। कृष्ण की पत्री ही उनके लिए कृष्ण हो गई। जैसे वे कृष्ण के अंक (गोद अर्थात् शरीर) को पाकर आलिगन करतीं वैसे ही कृष्ण के लिखे (अक्षर) देखकर वे पत्री को बराबर हृदय से लगाती हैं। यहाँ .. भाव का और आधिक्य व्यंजित करने के लिए शब्द-साम्य की सहायता ऐसे कौशल से ली है कि एक बार शब्दों का साधारण अर्थ (अक्षर और काला) लेने से भाव की अधिकता सूचित हुई फिर आगे उसका श्लिष्ट अर्थ (गोद और कृष्ण) लेने से उसी भाव की और भी अधिकता व्यंजित हुई। इससे जो लाघव हुआ वह तो है ही, साथ ही प्रेम के अंतर्भूत एक मानसिक दशा के चित्र का रंग कैसा चटकीला हो गया है। शब्द-साम्य को उपयोग में लानेवाला कवि कौशल यही है।"

इसी महाकवि का एक दूसरा पद भी देखिए—

"मंदिर-अरध-अवधि बदि हमसों,
हरि-अहार चलि जात।
ससि-रिपु वरष सूर-रिपु युगवर,
हर-रिपु किए फिरै घात।
मघ पंचक लै गए स्याम घन,
आय बनी यह बात।
नखत, बेद, ग्रह जोरि अर्धकरि,
को बरजै, हम खात।
सूरदास प्रभु तुम्हहि मिलन को,
करि मीडति पछितात।"

प्राचीन और नवीन कविता मे शब्दालकार

कहना न होगा कि यहाॅ महाकवि सूर का हृदय गोपियों की वियोग-व्यथा में लीन नहीं हुआ है। यहाॅ उनका मस्तिष्क शब्द-वैचित्र्य के गाॅठ-जोड़ मे जुटा है। जैसे कोई बाजीगर एक कंकड़ी या इसी प्रकार की कोई वस्तु उठा लेता है और फिर उसी से अजायब घर की अनेक वस्तुएॅ पैदा करके दर्शको को चमत्कृत करता जाता है उसी प्रकार सूर ने कहीं पखवारे को 'मन्दिर-अरध' (घर का आधा भाग पाख अर्थात् पक्ष) के रूप में रखा है, कही महीने को 'हरि-अहार (मांस) बनाया है जो आगे चलकर मास हो गया है, कहीं दिन को 'शशि रिपु' और रात्रि को 'सूर रिपु' के रूप मे दिखाया है, कहीं मघा को लेकर पाॅचवे नक्षत्र चित्रा तक

ले जाकर 'चित्त' की दुर्दशा करके उसे 'मघ पंचक' मे परिवर्तित किया है, फिर २७ 'नक्षत्र' ४ 'वेद' और ९ 'ग्रह' को एक साथ जोड़ा है तथा उसका आधा करके २० किया है जिसे अन्त में विष बना डाला है। इस वैचित्र्य को देखकर कुछ समय के लिए वैसा ही मनबहलाव होता है जैसा शब्द-कोश लेकर पहेलियो को हल करने में होता है। इस प्रकार की वैचित्र्य-प्रियता गंभीर मानस वाले तुलसी के समान इने-गिने कवियो में छोड़ कर और प्रायः सभी कवियों में थोड़ी बहुत पाई जाती है—पुराने कवियो मे भी और नवीन कवियो में भी। अन्तर इतना ही है कि पुराने कवि जो "भूषन बिना न सोहहीं कविता वनिता वित्त" के अनुसरणकर्ता थे वे वर्णों और शब्दो के साथ खिलवाड़ के लिए ही अनुप्रास, श्लेष, यमक आदि शब्दालंकारो का प्रयोग करते थे। अतः कविता उनके लदाव से कभी कभी इतना लद जाती थी कि उसका स्वरूप भोड़ा सा दिखलाई पड़ने लगता था और एक मात्र वे ही दिखलाई पड़ते थे। पर छायावादी कविता मे वर्ण या शब्द-क्रीड़ा का ऐसा आग्रह नहीं प्रतीत होता। छायावादी कविता में अनुप्रास की योजना वर्ण-साम्य प्रदर्शन की दृष्टि से नहीं की गई है। वह श्रुति सौंदर्य के विधान के लिए हुई है। उसमें अनुरणन है जिससे सम्बन्धी भाव नाद से ही प्रतिध्वनित होते हैं। नई कविता में ~~यमक और श्लेष~~ का प्रयोग अपेक्षाकृत पुरानी कविता से कम हुआ है, पर जो हुआ है वह काव्योचित है। उनमें शब्द वैचित्र्य मात्र नहीं है,

उनमें कवि की वह मार्मिक अंतर्वृत्ति भी दिखलाई पड़ती है जिसके कारण उनका प्रयोग हुआ है। कुछ उदाहरण लीजिए—

"घूमता है संमुख वह रूप
सुदर्शन हुए सुदर्शन चक्र
× × ×
तरणि ही के संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल मे"

—पंत

"जीवन की जटिल समस्या
है बढी जटा सी कैसी
उडती है धूल हृदय में
किसकी विभूति है ऐसी ?"

—प्रसाद

कहना न होगा कि ऊपर के उद्धरण 'यमक' और 'श्लेष' के उदाहरण हैं वे अनुप्रास-योजना दिखलाने की दृष्टि से नहीं दिए गए है। यह अनुप्रास कविता के नाद-तत्व के सहज अंग होने के कारण यहाँ भी सहज ही आ गए हैं कवि-प्रयास से नहीं। उनमे एक में जिस प्रकार ताल में तरल तरंग के संग तरणि के डूबने की ध्वनि सुन पड़ती है वैसे ही दूसरे में जटा सी बढ़ी जीवन की समस्या की जटिलता ध्वनित हो उठती है। अब यदि पहले उद्धरण के सुदशनगत यमक को देखते हैं तो कवि के उस 'त्रास' का पता चलता है जो सुदर्शन (संसार की सुन्दर

वस्तुओ) के अचानक भयानक हो जाने से उत्पन्न हो गया है। रक्षक यदि भक्षक प्रतीत हो और वह भी ऐसा जिससे भाग निकलने का कोई रास्ता न हो तो किसे व्याकुलता न होगी? भला सुदर्शन चक्र से कोई सहज छुटकारा पा सकता है? यहाँ शब्दसाम्य की सहायता से वियोग-व्यथा की तीव्रता तथा अनिवार्यता भर ही व्यजित नहीं हुई है वरन् प्रिय के रूप की आभा के आधिक्य की व्यंजना भी बड़े कौशल से हुई है। इसी प्रकार पन्त की नौका तथा सूर्य में अभेद या साम्य केवल इसलिए नहीं है कि दोनों 'तरणि' कहलाते हैं वरन् इसलिए है कि सूर्य के डूबने से जिस प्रकार बाह्य जगत् अंधकारपूर्ण हो गया उसी प्रकार नौका के डूबने से पंत का अन्तर्जगत हो गया (डूबे भी दोनो साथ ही) यह है कवि-कला जो पद-प्रयोग की विशेषता तक ही केन्द्रित न रहकर भावना तक पहुँचती और उसे उद्वेलित करती है।

प्रगतिवादी कविता मे यमक और श्लेष ऐसे कवि-कौशल-सापेक्ष अलंकारों को ढूढ़ना श्रम-साध्य सा है क्योंकि प्रगतिवादी साहित्य-शास्त्र की मान्यताओं के ग्रहण को काव्य की अगति कहते है। यही बात नाद-सौन्दर्य उत्कर्षक अनुप्रास के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। वे उसके भी त्याग करने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि नाद-सौन्दर्य की अतिशयता से उनके विषय की गंभीरता दब जाती है। पर जान मे हो या अजान

प्रगतिवाद मे शब्दालकार

में, संस्कारजन्य विवशता हो या कलागत अनिवार्यता

"खुल गए छंद के बंध

प्रास के रजत पाश"

की घोषणा स्वयं प्रास-पाश मे पड़ गई है। कहा जा सकता है कि पार्टी डिसिप्लिन के विरुद्ध चलने के कारण ही तो पंत प्रगतिवादी दल से निकाल दिए गए है और प्रयोगवादियो की कक्षा में बैठाये गए हैं।% अच्छा तो पक्के प्रगतिवादी केदार का

एक बीते के बराबर

यह हरा ठिगना चना

देख लीजिए—वह भी 'प्रास-पाश' से मुक्त नहीं है। इसी प्रकार नीचे 'हवा' मे श्लेष और 'नसा' मे यमक देखिए—

"पर हित छँगुनी पर धरेनि

गोबरधन गोपाल

तुम दुख माँ गिरि पर चढ्यो

% कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तो को लेकर जिस प्रकार राजनीति के क्षेत्र मे उदार (समाजवादी) और उग्र (साम्यवादी) दो दल है उसी प्रकार प्रगतिवादी साहित्य-ससार मे भी। जो मार्क्स के जडतावाद को मत्र मानकर उससे एक तिल इधर-उधर नही हटते वे ही पक्के प्रगतिवादी माने जाते है। जो जडतावाद मे नैतिकता, आस्तिकता आदि को लेकर किंचित भी आध्यात्मिकता का समावेश कर देते है वे प्रगतिवादी नही कहे जाते। पत, निराला, दिनकर आदि इसीलिए प्रयोगवादी कहलाते है। प्रगतिवादी अपने उन्नायक पत तक को अपने साथ लेने को तैयार नही।

तजि धरती के लाल
यहि मा कौन अनीति भै,
कहौ तनिक समझाय
अन्न कमी लखि घास माॅ
गग्रन हवा हम खाय
नसा बन्द कइ उइ अलॅग
किह्यो बडा उपकार
ई लॅग नसा पहार का
तुम पर भवा सवार''

इस प्रकार यह सरलता से देखा जा सकता है कि प्रगतिवादी कविता शब्दालंकारो से शून्य तो नहीं है, पर उनके विधान की योजना अनावश्यक मानी जाती है ।

प्राचीन और नवीन कविता के अर्थालिकार

अब लीजिए सादृश्य और साधर्म्यमूलक अर्थालंकार । छायावादी कविता में अभिव्यजनावैशिष्ट्य की प्रधानता होने के कारण उसके अधिकांश कवि साम्य के बिना चलते ही नहीं । बाहरी रूप-व्यापारों तथा अन्तर्वृत्तियो दोनो की अभिव्यक्ति अनेक अप्रस्तुत वस्तुओं द्वारा करते है, कभी उपमा रूपक की पद्धति पर अप्रस्तुतों के साथ समन्वित रूप में—

"इस हृदय कमल का खिलना
अलि-अलको की उलझन मे''

—प्रसाद

कभी रूपकातिशयोक्ति की पद्धति पर केवल अप्रस्तुतों द्वारा—

"जब शांत मिलन संध्या को
हम हेमजाल पहनाते
काली चादर के स्तर का
खुलना न देखने पाते"

—प्रसाद

अथवा लक्षणा के बल पर अप्रस्तुतो के किसी व्यापार-मात्र द्वारा जैसे—

"अभिलाषाओ की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भीगी पलको का लगना।"

—प्रसाद

इनमे से प्रथम दो प्रकार का विधान तो पुरानी कविता मे भी बहुत मिलता है, पर तीसरे प्रकार का विधान नवीन कविता की विशेषता है, पुराने कवियो मे ढूँढ़ने से ही मिलेगा।

प्राचीन और नवीन कवियों मे चाहे जो भी अंतर हो पर अप्रस्तुतो का व्यवहार साम्य के आधार पर—जैसा पहले कहा जा चुका है, सदा से होता आया है। यह साम्य भारतीय आचार्यों ने तीन प्रकार का माना है—(१) सादृश्य (रूप या आकार की समानता), (२) साधर्म्य (गुण या क्रिया की समानता) तथा (३) केवल शब्दसाम्य। इनमे से शब्दसाम्य पर

पहले विचार किया जा चुका है। रहे सादृश्य और साधर्म्य, इनके सम्बन्ध मे ध्यान देने की बात यह है कि काव्य मे किसी प्रस्तुत के सदृश किसी वस्तु (अप्रस्तुत) की योजना केवल उसके रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने भर के लिए ही नही होती वरन् उसमें निहित भाव का उत्कर्ष दिखाने के लिए भी की जाती है। पर यह तभी सम्भव है जब सादृश्य और साधर्म्य के साथ साथ प्रस्तुत और अप्रस्तुत मे प्रभाव साम्य भी हो। जहाँ यह बात नहीं होती, केवल ऊपरी रूप-रंग देखकर आधिक्य अथवा न्यूनता दिखलाने के लिए अप्रस्तुत का विधान कर दिया जाता है वहाँ वह भावानुभूति मे सहायक न होकर उलटे विरूप भावना लाकर खड़ा कर देता है। छोटे-मोटे कवियों की तो बात ही क्या, कही कही तो प्रभाव-साम्य की उपेक्षा गोस्वामीजी इत्यादि महाकवियो से भी हो जाती है—

"सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं
जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं

× × ×

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहिं राम॥"

यहाँ क्रमशः लक्ष्मण की सेवा और तुलसी के प्रेम के आधिक्य की व्यंजना तो हो गई है, पर लक्ष्मण का सादृश्य अविवेकी पुरुष से तथा तुलसी का सादृश्य कामी और लोभी पुरुष से

जो किया गया है उससे लक्ष्मण और तुलसी की पवित्रता संबंधी भावना को बड़ी ठेस लगी है। इसी प्रकार सूरदासजी के हरि के हाथ मे एक महा विचित्र माखन-रोटी देखिए—

"हरि कर राजत माखन रोटी

मनौ बराह भूधर सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी"

सारांश यह कि अप्रस्तुत विधान मे प्रभाव-साम्य का होना बहुत आवश्यक है। पर हिन्दी की प्राचीन कविता में इसका कोई आग्रह नही दिखलाई पड़ता। उसकी अप्रस्तुत योजना मे अलंकार-विधान की बॅधी हुई परिपाटी होने के कारण प्राचीन कवि सादृश्य और साधर्म्य को लेकर ही चलते थे। किन्तु उस सादृश्य और साधर्म्य मे प्रायः प्रभावसाम्य छिपा रहता था। बात यह थी कि काव्य मे जिन उपमानो का ग्रहण होता था उनमे से अधिकतर ऐसे होते थे जिनके नाम मात्र से ही हमारे हृदय मे उनसे परम्परा से बँधी हुई भावना का उदय हो आता था; जैसे कमल से कोमलता तथा माधुर्यपूर्ण सौन्दर्य की, अग्नि से तेज और क्रोध की, समुद्र से विस्तार और गम्भीरता की, चातक से एकनिष्ठा और निस्वार्थ प्रेम की इत्यादि। दूसरे शब्दो में यों भी कह सकते हैं कि काव्य मे बॅधे चले आते उपमानो में से बहुतेरो मे प्रतीकत्व होता था। इसी प्रतीकत्व के कारण सादृश्य और साधर्म्य की योजना में प्रभाव-साम्य उनसे लिपटा हुआ आप ही आ जाता था। परन्तु ऐसा समर्थ कवि ही कर पाते थे। पर अलंकार विधान की धुन मे कभी कभी वे भी

किसी एक विषय के सादृश्य या साधर्म्य के विचार से ही ऐसे उपमान रख देते थे जिनमे प्रतीकत्व कुछ भी नहीं होता था। पिछले खेवे के कवियो मे यह बात और भी अधिक दिखलाई पड़ती है।

छायावादी कवियो मे इसकी प्रतिक्रिया हुई। वे सादृश्य और साधर्म्य की बड़ी परवा नही करते है।* उनकी दृष्टि प्रायः प्रभाव साम्य की ओर अधिक रहती है। सादृश्य और साधर्म्य अत्यन्त अल्प या कभी कभी न रहने पर भी प्रभाव साम्य लेकर छायावादी कविता मे अप्रस्तुत की योजना कर दी जाती है। ऐसे प्रस्तुत प्रायः प्रतीकवत होते है। जैसे सुख के व्यजक ऊषा, चन्द्रिका इत्यादि विषाद या अवसाद के व्यंजक अंधकार, छाया, अँधेरी रात इत्यादि—

"लिपटे सोते थे मन मे
सुख-दुख दोनो ही ऐसे
चंद्रिका-अँधेरी मिलती
मालती-कुंज मे जैसे"

—प्रसाद

यहाँ सुख और दुःख के क्रमशः उपमान रखे गए है—चन्द्रिका और अँधेरी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह साम्य प्रभाव को लेकर ही किया गया है। चन्द्रिका का प्रभाव है आह्लाद और

*देखिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत हिंदी साहित्य का इतिहास (परिवर्धित सस्करण) पृष्ठ ८०८

अन्धकार का खिन्नता या उदासी। इस प्रकार के सार्वभौमिक प्रतीक (यूनीवर्सल सिम्बल) कविता के बड़े काम के होते है। इससे भाषा की व्यजकता बढ़ जाती है। पर वर्तमान कविता मे सार्वभौमिक प्रतीक ही नही, देशगत प्रतीक भी काम मे लाए जाते है—

"झंझा-झकोर गर्जन था
बिजली थी नीरद-माला
पा कर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला"

—'आँसू' से

यहाँ पर हृदय के अत्यन्त गहरे क्षोभ के लिए झंझा-झकोर आया है और हर्ष के लिए नीरद-माला। भारत मे ग्रीष्म दुःखद माना जाता है पर यूरोप मे सुखद। इसी प्रकार भारत मे बादल जीवन-दाता कहा जाता है, पर यूरोप मे यह विपत्ति का प्रतीक है। यहाँ तक ठीक है। इस प्रकार के प्रतीक (कम से कम देश-ज्ञान रखने वालो की) समझ मे आ जाते है। पर जहाँ व्यक्तिगत प्रतीक (इनडिविजुएल सिम्बल) प्रयुक्त होते हैं वहाँ कविता दुरूह हो जाती है। यदि कोई बिल्ली देखकर डर जाय इसलिए वह उसे भयंकरता का प्रतीक बना डाले तो इससे अर्थ समझने में कठिनाई होना अवश्यंभावी है। अस्तु, प्रभाव-साम्य को लेकर नवीन अप्रस्तुत-योजना काव्य की उत्कृष्ट पद्धति है सही, पर इस प्रकार के नवीन प्रतीकों का व्यवहार करने के लिए

प्रभाव को ठीक ठीक ग्रहण करने वाला प्रतिनिधि-हृदय चाहिए। प्रभाव भी ऐसा होना चाहिए जिसे थोड़ा-बहुत सबका हृदय ग्रहण करे। पर कलावाद या व्यक्ति वैचित्र्यवाद के फेर में पड़ इसकी उपेक्षा भी कर दी जाती है। देखिए—

"तम के सुन्दरतम रहस्य हे
कांति किरण रंजित तारा।
व्यथित विश्व के सात्विक शीतल
बिन्दु भरे नव रस सारा॥
आतप तापित जीवन सुख की
शान्तिमयी छाया के देश।
हे अनन्त की गणना देते
तुम कितना मधुमय सन्देश॥"

—कामायनी से

जिस प्रकार की भावना का आरोप तारे पर किया गया है उस प्रकार की भावना उसे देखकर स्वयं नहीं उठती। अतः इसे दूरारूढ़ भावना कहना चाहिए जिसके मूल में वैचित्र्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति है। छायावादी पंत में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह न समझना चाहिए कि नवीन कविता के अलंकार-विधान मे प्रभाव-साम्य ही प्रभाव-साम्य है। सूर ने रोटी को पृथ्वी बनाया है तो पंत ने तारा को

'शुचि उलूक'× कहकर सम्बोधित किया है। इतना ही नहीं 'विशाल अम्बर'‡ को विहंगम भी बनाया है—'स्याही का बूँद' तो और भी विचित्र है। देखिए—

... ...

"अचानक यह स्याही का बूँद
लेखनी से गिर कर सुकुमार
गोल-तारा-सा नभ से कूद
सजनि! आया है मेरे पास"

इतना ही नहीं, अप्रस्तुत-योजना करते समय आजकल कवि कहीं कहीं इसकी भी परवा नहीं करते कि उनका चित्र सच्चा उतर रहा है अथवा नहीं? एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायगी—

"नयन-नीलिमा के लघु नभ मे
अलि! किस सुखमा का संसार
विरल इन्द्रधनुषी बादल सा
बदल रहा निज रूप अपार"

—पन्त

×इदु-दीप से दग्ध शलभ शिशु!
शुचि उलूक! अब हुआ विहान
... ...

‡विहगम सा बैठा गिरि पर
सुहाता था विशाल अम्बर?

यहाँ 'नयन-नीलिमा' (पुतलियों) को 'लघु नभ' बना तो डाला पर इस बात को भूल गये कि स्वप्न मन से देखे जाते हैं, पुतलियों से नहीं।

जिस प्रकार प्राचीन कविता मे रूपक की शृंखला दूर तक चलती थी* उस प्रकार के रूपक तो छायावादी कविता मे नहीं मिलते। पर दूर तक चलनेवाले व्यंग्य रूपक बराबर दिखाई पड़ते हैं जिनमे दो-दो तीन-तीन उपमानो का गुम्फन दूर तक चलता रहता है—

"अरे, ये पल्लव - बाल!
सजा सुमनो के सौरभ - हार
गूँथते थे उपहार,
अभी तो है ये नवल प्रबाल,
नही छूटी तरु डाल;
विश्व पर विस्मित-चितवन डाल
हिलाते अधर प्रबाल!
न पत्रों का मर्मर - संगीत,
न पुष्पों का रस, राग, पराग
एक स्फुट, अस्पष्ट अगीत,
सुप्ति की ये स्वप्निल मुसकान

* देखिए रामचरित मानस के बालकाण्ड मे मानस-रूपक और उत्तर काण्ड मे ज्ञान-दीपक इत्यादि।

सरल शिशुओं के शुचि अनुराग
वन्य विहगों के गान"
—पन्त

इन दो पद्यों में ही नहीं 'पल्लव' शीर्षक पूरी कविता मे भाव के साथ कोमल पत्तों और बालक का लम्बा साम्य चलता है। एक प्रस्तुत के लिए अनेक अप्रस्तुत लाना अनुचित नही। पर जहाँ एक अप्रस्तुत के लिए एक और अप्रस्तुत की योजना की जाती है वहाँ कविता में दुर्बोधता आ जाती है। जैसे—

"अरुण कलियों से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते है असहाय"
—पन्त

मे घाव स्वयं अप्रस्तुत है—वेदना के लिए आया है। इस अप्रस्तुत का भी उपमान 'अरुण कलियाँ' रखा गया है। पर पद्य पढ़ने से 'घाव' अप्रस्तुत नही, प्रस्तुत प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नवीन कविता में भी अलंकारो का त्याग नही हुआ है। यह बात दूसरी है कि पहले उत्प्रेक्षा, उपमा इत्यादि सागोपांग रहती थी और उनका प्रचलन अधिक था, किन्तु आजकल वे प्रायः सांगोपांग नहीं रहतीं और उनके स्थान पर प्रतीको के बल पर चलनेवाली अन्योक्तियो या रूपकातिशयोक्तियों की विशेष प्रवृत्ति है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि छायावादी कविता मे रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा अलकार पुराने समझकर त्याग दिए गए हैं। वस्तुतः इनका प्रयोग धड़ल्ले से होता है। दो-एक उदाहरण लीजिए—

"तरल मोती से नयन भरे

मानस से ले उठे स्नेह घन, कसक-विद्यु-पलकों के हिमकण,

सुधि स्वाती की छाँह पलक की सीपी मे उतरे"

—महादेवी वर्मा

यह वही रूपक है जिसे एक देश विवर्ति कहा जाता है। आँसू का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन न होने से इसे नये ढंग का विधान नही कहा जा सकता। यह ठीक उसी प्रकार की योजना है जैसी—

"नाम पहरुआ दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।

लोचन निज पद यंत्रित, प्राण जाहिं केहि बाट॥"

की है। अभेद रूपक भी देखिए—

"बीती विभावरी जागरी

अम्बर-पनघट मे डूबो रही तारा-घट ऊषा-नागरी"

—प्रसाद

पंत की कविता से निरवयव रूपक का उदाहरण ले लीजिए—

"कनक छाया में जब कि सकाल

खोलती कलिका उर के द्वार

सुरभि पीडित मधुपो के बाल,

तडप बन जाते हैं गुंजार"

उपमा के लिए छायावादी कविता के अवगाहन की आवश्यकता न पड़ेगी। पंतजी की 'छाया' शीर्षक कविता मे उपमाएँ गुँथी हुई मिल जायेंगी। उनके देखने से यह भी लक्षित होगा

कि वे प्रायः 'धर्मलुप्ता' है। उक्त दो प्रधान अलकारो के अतिरिक्त प्रतीप, स्मरण, उल्लेख, प्रतिवस्तूपमा, एकावली इत्यादि अलकारों की छटा भी छायावादी कविता मे कम नहीं है। पर इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि प्रभावान्विति की ओर विशेष दृष्टि न रहने तथा थोड़े मे बहुत सा अर्थ भरने के प्रयत्न के कारण जैसे ये कविताएँ रस-धारा न बहाकर रस के छीटे उड़ाती हैं उसी प्रकार इनमे अलकार प्रायः सुगठित न होकर इधर-उधर चमकते दिखलाई पड़ते है। शास्त्रीय शब्दो मे कहा जा सकता है कि इनकी अलंकार योजना मे 'ससृष्टि' और 'संकर'* का प्राधान्य रहता है। पृष्ठ १८० मे उद्धृत (अरे ये पल्लव-बाल) कविता को ही लिजिए। 'बाल' को यदि पल्लव का उपमान मान लें तो रूपक स्पष्ट है और 'सुमन' 'प्रवाल' आदि में श्लेष की स्थिति हो जाती है। पर यदि बाल को ईषद् प्रयोग (जो पतजी को बहुत प्रिय है) मानकर पल्लव-बाल का अर्थ 'तरु-डाल' से निकलते हुए कोमल पत्ते लें और उन्हे भावो का उपमान मानें तो 'रूपकातिशयोक्ति' निकल आती है। यही 'समासोक्ति' हो सकती है यदि वसंतागम की वनश्री के प्रादुर्भाव को प्रस्तुत मानकर यह अप्रस्तुत माने कि कवि ने यहाँ बाह्य प्रकृति के मेल मे अपने अंतर्जगत् को देखा है जहाँ काव्य की नई उमंग के भावो का

---

* तिल और तडुल की भाँति मिले हुए अलकारो को 'ससृष्टि' कहते है और जहाँ उनका मिश्रण ऐसा होता है कि उनकी अलग-अलग सत्ता लक्षित न हो जैसे नीर और क्षीर की वहाँ उनको 'सकर' कहते है।

स्फुरण हो रहा है। यह तो बड़ी योजना की बात हुई। अब २-१ छोटी योजनाएँ भी देख लीजिए जहाँ केवल १८ शब्दो मे हमारी दृष्टि ४ बार अलकारो पर पड़ती है—

"परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निश्वास मलय के झोके
मुख-चंद्र चाँदनी जल से
मै उठता था मुँह धोके"

—प्रसाद

प्रथम पक्ति मे 'मदिरा' की सिद्धि के लिए परिरम्भ-कुंभ मे रूपक है। पर कुंभ और मदिरा, क्रमशः स्तन और आनद के उपमान है। उपमेय का कथन न होने के कारण रूपकातिशयोक्ति हो जाती है। दूसरे चरण मे निश्वास-मलय मे अभेद होने के कारण रूपक है ही। तीसरे चरण मे जब तक चाँदनी जल न हो जाय तब तक वह कवि का मुँह धोने मे असमर्थ है। अत· परिणाम अलंकार है।

इस अलंकार-विधान के सबंध मे एक बात और ध्यान देने की है। यो तो कवि के लिए कोई बधन नहीं है, चाहे वह अमूर्त पदार्थों का उपमान मूर्त रखे और चाहे मूर्त का अमूर्त। पर प्राचीन कवियो में प्राय· पहली बात पाई जाती है। हृदय को भवन और काम, क्रोध, मद, लोभ इत्यादि को चोर अथवा काम को अग्नि और विषय-भोग को घी के रूप मे कवि-प,'परा बराबर दिखलाती चली आई है—

"मम हृदय भवन प्रभु तोरा।
तहँ बसे आइ बहु चोरा॥

... .

तम मोह, लोभ, अहँकारा।
मद, क्रोध बोध रिपु मारा॥
अति करहिं उपद्रव नाथा।
मरदहिं मोहिं जानि अनाथा॥
मैं एक, अमित बटपारा।
कोउ सुनै न मोर पुकारा॥

... .

कह तुलसिदास सुनु रामा।
लूटहिं तसकर तव धामा।

....

बुझै न काम अगिन तुलसी कहुँ,
विषय भोग बड घी ते,"

—गो० तुलसीदास

किन्तु छायावादी कवि मूर्त पदार्थों के भी अमूर्त उपमान रखा करते हैं—

....

....

"गिरवर के उर से उठ उठ कर

उच्चाकांक्षाओं से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर।"

—पंत

"बढने लगा विलास वेग सा
वह अति भैरव जल संघात"

—प्रसाद

कभी कभी वे किसी भाव या वस्तु की व्यंजना सीधे सीधे न करके व्यापारों का एक चित्र खड़ा करके किया करते हैं। देखिए निष्ठुरता की कैसी सुन्दर व्यंजना की गई है—

"रो रो कर सिसक सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।"

—प्रसाद

यहाँ तक हुई अप्रस्तुत विधान की बात। अब देखना यह चाहिए कि छायावादी कविता में अप्रस्तुत-विधान के लिए कहाँ से और कैसी सामग्री ली जाती है।

यों तो नई रंगत के कवि की कल्पना और कविता को अलौकिक कहा जाता है, पर यथार्थतः जिन प्राकृतिक दृश्यों और व्यापारों द्वारा छायावादी कवि अपने भावों की व्यंजना करते हैं वे सब इसी जगत् और जीवन के हैं। इस कविता में अधिकतर वे ही रूप और व्यापार हैं जिनका प्रयोग कवि परम्परा करती

आई है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, इद्रधनुष, उषा, प्रभात, सन्ध्या, समुद्र-तरंग, चातक इत्यादि कविता मे आदिकवि के समय से चले आ रहे हैं। इसी प्रकार स्वाती के मेघो के प्रति चातक का प्रेम, भौंरो का फूलो को घेरना, समुद्र का पूर्णचंद्र की ओर लपकना इत्यादि कविगण सदा से देखते आए हैं। इन्ही सब वस्तुओ का प्रयोग आज भी होता है। हॉ, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, पहले के कवि अधिकतर शास्त्रो पर ही निर्भर रहते थे, अपनी देखी बात बहुत कम करते थे। आजकल के कवि स्वतन्त्र निरीक्षण भी करते है। नीचे की पंक्तियो मे बुझे हुए दीपक की बल खाती धूम्र रेखा को स्मृति का उपमान बनाना कवि के स्वतन्त्र-निरीक्षण का परिचायक है।

"जल उठा स्नेह दीपक सा,
नवनीत हृदय था मेरा।
अब शेष धूमरेखा से,
चित्रित कर रहा अँधेरा ॥"

—प्रसाद

इसी प्रकार बहुत से वायवी उपमान इस काल मे हिन्दी कविता में आए—

"तरुवर के छायानुवाद सी
उपमा सी भावुकता सी
अविदित भावाकुल भाषा सी
कटी-छटी नव कविता सी"

—पंत

इनके अतिरिक्त कुछ वैज्ञानिक तथ्य— जैसे आनन्द की तरंग के लिए 'ईथर वेव' को लेकर भी अप्रस्तुत विधान किया गया। इतना होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि कवियो की कल्पना प्रकृति के अनन्त क्षेत्र में नये-नये रूपो और व्यापारो की छान-बीन मे उतनी व्यस्त नहीं हुई। अधिकतर काव्य परम्परा के परिचित रूपों और व्यापारो को लेकर ही उनकी इस नूतन ढंग से योजना की गई और उन्हें ऐसे तथ्यो की समता मे रखा गया कि उनमे नवीन व्यंजकता आ गई। जैसे पिछले पहर स्वप्न में प्रिय के समागम का आनन्द और उसका विनाश इन पंक्तियो में—

"कुसुमाकर रजनी के जो,
पिछले पहरो मे खिलता।
उस मृदुल शिरीष सुमन सा,
मै प्रात धूल मे मिलता॥"

—प्रसाद

इस प्रकार की कुछ योजनाएँ तो प्राचीन पद्धति से अथवा उसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन करने से नवीन कविता में आई, कुछ ऐसी भी योजनाएँ मिलेंगी जो सीधे अँगरेजी से ली गई है, इनका मुख्य आधार लक्षणा है। इनके बल पर बहुत सुन्दर अप्रस्तुत-विधान होता है। इससे अगोचर भावो को गोचर मूर्त रूप तो मिलता ही है साथ ही प्रभाव पर भी जोर पड़ता है और भाषा में वक्रता तथा कथन में चमत्कार आ जाता है जो कविता

के लिए बहुत आवश्यक है। पर जहाँ लक्षणा जटिल हो जाती है वहाँ कविता मे बड़ी दुर्बोधता आ जाती है। एक उदाहरण लीजिए—

"गूढ कल्पना-सी कवियो की,
अज्ञाता के विस्मय सी।
ऋषियों के गंभीर हृदय सी,
बच्चो के तुतले भय सी॥"

—'पल्लव' से

'बच्चो के तुतले भय सी' का अर्थ तब तक समझ में नहीं आ सकता जब तक 'भय' का लक्ष्यार्थ 'भय का कारण' और 'तुतले भय' का लक्ष्यार्थ 'तुतली बोली मे व्यंजित भय' न लिया जाय। जब इस दुहरी लक्षणा से काम लिया जायगा तब कही पद्यांश का प्रकृत अर्थ 'तुम बच्चे के उस भय के समान हो जिसे वह अपनी तुतली बोली मे व्यक्त करता है' मिलेगा। हमारे यहाँ लक्षणा का विचार अलंकारो से अलग 'शब्द शक्ति' के साथ किया गया है। पर अँगरेजी साहित्य में यह बात नही है। वहाँ लक्षणा का प्रयोग अलंकार विधान में किया जाता है। यही कारण है कि वहाँ लक्षणामूलक अलंकारों की प्रधानता है। इन अलंकारों मे से छायावादी कवियो ने दो को बहुत अधिकता से अपनाया। वे हैं नर-रूपक (परसानीफिकेशन) और विशेषण-विपर्यय (ट्रांसफर्ड एपीथेट) इनसे कवियो को भाषा में वक्रता, मूर्तिमत्ता तथा चमत्कार दिखलाने का अच्छा अवसर

निकल आया। इस प्रकार का अप्रस्तुत-विधान हिंदी की प्राचीन कविता में ढूँढ़ने से ही मिलेगा। पर नवीन कविता में 'कैसी हिलती डुलती अभिलाषा है कली तुझे खिलने की', 'आह यह मेरा गीला गान', 'बच्चो के तुतले भय सी' इत्यादि की भाँति विशेषण-विपर्यय के उदाहरण स्थान स्थान पर मिलेंगे। इसी प्रकार—

"श्रुति पुट लेकर पूर्वस्मृतियाँ, खड़ी यहाँ पट खोल।
देख आप ही अरुण हुए हैं इनके पांडु कपोल॥"

—मैथिलीशरण गुप्त

"छपी सी पी सी मृदु मुसकान,
छिपी सी खिंची सखी सी साथ।
उसी की उपमा सी बन, मान,
गिरा का धरती थी, धर हाथ॥"

—पंत

से नर-रूपको की भी कमी नहीं है। पर स्मृतियों के कपोल पीले या लाल करना अथवा हँसी को सखी बनाकर सहेली का हाथ पकड़वाना इत्यादि कितनी सामान्य भावभूमि पर हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं। अँगरेजी का प्रतीकवत् ग्रहण भी आज-कल की कविता में खूब मिला करता है। 'विचारो में बच्चों की साँस,' 'मेरे जीवन के अन्तिम पाहुन' इत्यादि प्रसिद्ध उदाहरण है।

अँगरेजी के अतिरिक्त कहीं कहीं फारसी शायरी की कुछ सामग्री—शराब, प्याला इत्यादि भी मिलती है—

"काली आँखो मे कितनी
यौवन के मद की लाली
मानिक मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली"

—आँसू से

इसका प्रभाव आँखो तक ही सीमित न रहकर अंतरिक्ष तक व्याप्त होता दिखाई पड़ता है—

"इन्द्रनील मणि महा चषक था
सोम रहित उलटा लटका ;"

—कामायनी से

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि छायावादी कविता के अप्रस्तुत विधान मे नवीनता है अवश्य, पर वह ऐसी नहीं कि अपूर्व कही जा सके। उसमे अधिकतर संस्कृत-साहित्य, रीतिकालीन कविता, अँगरेजी कविता, उर्दू शायरी इत्यादि का ऐसा मिश्रण है जो उसके अप्रस्तुत विधान को नवीनता का चोला पहना कर प्राचीन कविता के अप्रस्तुत विधान से अलग-सा कर देता है। उसकी अभिव्यजना-प्रणाली में लाक्षणिक वैचित्र्य की अतिशयता है और है ऐसे प्रतीको की योजना जिनके आधार बहुत ही धुँधले और दूरारूढ़ साम्य हैं। परम्परागत उपमानों के स्थान पर प्रायः नवीन और सूक्ष्म उपमानों की प्रतिष्ठा की गई है जो सौंदर्य-भावना की अतिशयता से सुन्दर, कोमल और मधुर ही नहीं वरन् वायवी भी हैं। अभिव्यंजना-

प्रणाली पर ही प्रधान लक्ष्य होने के कारण छायावादी कविता में उसका रमणीय विकास तो हुआ पर उसके अनूठे और अनावश्यक विस्तार मे प्रतिपाद्य (जो प्रकृति के कोमल, मधुर और सुन्दर पक्ष तक ही सीमित था) बिलकुल दब गया और अभिव्यजना-वैशिष्ट्य का आतिशय्य हुआ।

इन सब प्रकार के आतिशय्य ने कतिपय छायावादी कवियो को दूसरी ओर मोड़ा। उन्होंने जो मार्ग पकड़ा वह आगे चलकर प्रगतिवाद कहलाया। जैसा कि शब्दालकार पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि उसकी भी दो शाखाएँ हो गई। एक शाखा (प्रयोगवादी) वस्तु और शैली का समन्वय लेकर चली। उसमे जीवन की उपयोगिता तथा काव्य की सरलता के नाते वस्तु प्रमुख है और शैली गौण। यहाँ शैली का त्याग नही किया गया है। हॉ, प्रतिपाद्य से अप्रस्तुत का लदाव अवश्य हटाया गया है जो अभिनन्दनीय भी है। किंतु दूसरी शाखा प्रधानतया केवल वस्तु को लेकर चलती है। उसमें शैली की प्रभविष्णुता को प्रायः स्थान बहुत कम है। वे अपनी 'वाणी' को सिद्धान्तः अलंकृत करना आवश्यक नहीं समझते—

प्रगतिवाद मे अलकार विधान

"ज्योतित कर जन-मन के जीवन का अन्धकार
तुम खोल सको मानव-उर के नि.शब्द द्वार
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ?"

कहना न होगा कि प्रथम दो चरणों में क्या तीनों चरणा

मे कविवर पंत हैं और प्रश्न मे प्रगतिवादी पंत। वाणी के शब्द और अर्थ दोनो को अलंकृत करने के उपरान्त भी अलंकार की निरपेक्षता को प्रगतिवादी सिद्धान्त का आग्रह ही समझना चाहिए। सारांश यह कि प्रतिक्रिया की अतिशयता के फलस्वरूप प्रगतिवादी सिद्धान्ततः अलंकार-विधान को अनावश्यक समझते हैं, पर व्यवहार मे जो कवि हैं वे इसका त्याग नहीं कर पाते। श्री अंचल जी की निम्नलिखित कविता भी इसी बात का समर्थन करती है—

"इन खलिहानो में गूँज रही किन अपमानो की लाचारी
हिलती हड्डी को ढाँचों ने पिटती देखी घर की नारी
जब लोट लोट सी पडती है ये गेहूँ धानो की बाले
है याद इन्हे आती मानो जब खिचतीं थीं तेरी खाले
युग युग के अत्याचारो की आकृतियाँ जीवन के तल मे
घिर घिर कर पुंजीभूत हुई ज्यों रजनी के छाया छल मे

× × ×

इसकी भी आई थी आमो सी प्रखर जवानी
किंतु गई चुपचाप जमीदारों के भय की छोड कहानी
उन जुल्मों की याद न पूछो जल उठता प्रति रोम सिहर कर
दबे कंठ से रोती पछुआ—बीती रजनी अभी प्रहर भर"

प्रथम दो पंक्तियों में लाक्षणिकता देख लीजिए। उसके उपरान्त उत्प्रेक्षा। "आमो सी बौराती प्रखर जवानी" के चमत्कार (श्लेष से परिपुष्ट उपमा) मे किसका मन नहीं रमेगा? इसी

प्रकार 'जल उठता प्रतिरोम सिहर कर' के विरोध पर भला किसकी दृष्टि न जायगी ? प्रगतिवादी रूपक भी देखिए—

"रक्त-स्वेद से सींच मनुज जो नई बेल था रहा उगा
बड़े जतन वह बेल बढ़ी थी लाल सितारा फूल लगा
इस अंकुर पर बात लगी तो मेरे आघातों का क्या
टूट फूट दुनिया कराहती मेरे सुख सपने ही क्या"

—नरेन्द्र

"ऐसा-वैसा दुर्ग नहीं यह मजलूमों का प्यारा
हड्डी की इटों से जोडा गया खून का गारा
प्रबल आँधियाँ भीषण लहरें आई थी अजमाने
टक्कर खा-खा लौट गईं पर हिली नही चट्टानें"

—सुमन

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि अलंकारों का त्याग प्रगतिवादी कविता मे भी नहीं हुआ है। हाँ, यह बात दूसरी है कि उनकी कमी हो गई हो और साथ ही स्वरूप भी बदल गया हो। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। अलकार-प्रेम शिष्ट समाज में भी होता है और वन्य जातियों में भी। पर साधन और रुचि के अनुसार दोनों के अलंकारो की संख्या, स्वरूप और उपादानों में भेद होता है। एक स्थान पर रत्नजटित सोने चाँदी के आभूषण होते हैं और दूसरे स्थान पर काठ-हड्डी-घोंघे इत्यादि की नत्थी। इसी प्रकार काव्यालंकारो के संबंध मे भी समझना चाहिए।

प्रगतिवादी कविता के अप्रस्तुत विधान की मात्रा के सबंध मे कहा जा चुका है कि उसमें अप्रस्तुतो का लदाव नहीं है। अब यह देखना चाहिए कि जो है वह कैसा है। इस संबंध में सबसे पहले आता है साम्य जो प्रायः अप्रस्तुतो का मूलाधार है। साम्य चाहे रूप या आकार का हो, चाहे गुण या क्रिया का हो किन्तु यदि उसमें प्रभाव-साम्य न हुआ तो उस पर खड़ा किया गया अप्रस्तुत-विधान बहुत काव्योचित नहीं होता* पर प्रभाव 'सूक्ष्म' या अमूर्त होता है जिसका प्रगतिवाद विरोधी है। अतः उसे अपने काव्य का ढाँचा खड़ा करने के लिए प्रभाव-साम्य की अपेक्षा नहीं। देखिए—

"लाखो की अगणित संख्या में
ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है
ताकत से मुट्ठी बाँधे है
नोकीले भाले ताने है
हिम्मतवाली लाल फौज सा
मर मिटने को झूम रहा है"

—केदार

यहाँ गेहूँ के बीच लाल फौज क्यों कूद पड़ी है, इसे सम्भवतः प्रगतिवादियों को छोड़कर और कोई न समझ सकेगा। कारण स्पष्ट है—लाल-सेना का जो प्रभाव हमारे हृदय पर पड़ता है वह पके हुए गेहूँ के खेत को देखकर नहीं। साम्य भावना

---

* विवेचन के लिए कृ. दे. पृष्ठ १७४

उदार हृदय में ही पनप सकती है जो समस्त सृष्टि के साथ मनुष्य के गूढ़ सम्बन्ध को देख सकता है। पर प्रगतिवादियों का संसार नरक्षेत्र है और वह भी नागरिको और श्रमिकों तक सीमित है। अतः इनके अधिकतर उपमान उसी क्षेत्र से आए हैं और ऐसे है जिसे शिष्ट और परिष्कृत रुचि कुरूप, कुत्सित और कटु कहती है। इसलिए इनके द्वारा प्रस्तुत के प्रति अनुरूप भावना के स्थान मे विरूप भावना ही अधिकतर उद्बुद्ध होती है। 'विश्व-कमल की मृदुल मधुकरी रजनी' का रूप देखिए—

"कोयले की खान की
मजदूरिनी सी रात
बोझ ढोती तिमिर का
विश्नात सी अवदात"

—रागेय राघव

यहाँ तक तो गनीमत है, पर इस वाद मे ऐसे भी उपमान आते है जिन्हे सुनकर सुरुचि भाग खड़ी होती है—

"और वह दृढ पैर मेरा है
गुरु स्थिर स्थाणु सा गडा हुआ
तेरी प्राण-पीठिका पै लिंग सा खडा हुआ"

—अज्ञेय

साराश यह कि उपमानो मे प्रतीकत्व न होकर उनमें एक ऐसी नवीनता रहती है जो वस्तु को पूरी कटुता से प्रस्तुत करती है। फलतः उनमे भावोद्बोधन की क्षमता न होकर विचारो को

धक्का देने की उच्छृंखलता रहती है। जब अप्रस्तुत विधान मे कवि का लक्ष्य केवल नवीनता, कटुता, उच्छृंखलता-प्रदर्शन है तब निश्चय ही उपमानो की न कोई सीमा हो सकती और न कोई स्वरूप—कोई भी वस्तु किसी वस्तु का उपमान हो सकती है। यही कारण है कि जल-हीन-दीन मीन से 'दीन नयन' आज दो 'लालटेन', भाव जगत का स्रष्टा कवि कैंची से कपड़ो को काट-छाट करने वाला 'दर्जी' और विविधता से संकुल जटिल जीवन 'रद्दी की टोकरी' हो गया है। यहाँ तक तो बात फिर भी कुछ समझ मे आ सकती है क्योकि प्रगतिवादियो का दावा है कि उनकी वाणी सामान्य जन-समूह पर है और उन्हीं के लिए है, अत॰ लालटेन, दर्जी इत्यादि जितने काम के हैं, उतने प्रयोजनीय 'सरोज' और 'विधि' इत्यादि नहीं। पर कोई पूछ सकता है कि 'रद्दी की टोकरी' सामान्य जीवन के मेल मे कहाॅ से आ गई। इसका तो बहुतेरो ने देखने की कौन कहे, नाम तक न सुना होगा। कहा जा सकता है कि सामान्य जीवन के मेल में न सही पर है तो सामान्य वस्तु। बहुत ठीक। पर 'रेडियम की छाया' के सम्बन्ध में वे क्या कहेंगे, यह सामान्य बुद्धि के परे है। देखिए—

"उन्ही रेडियम के अंको की लघु छाया पर
दो छाॅहो का चुपचाप मिलन था
उसी रेडियम की हल्की छाया मे
चुपके का वह रुका हुआ चुम्बन अंकित था।"

इतना ही नहीं उस प्रकार का विधान भी बारबार मिलता है जिसे रोमैंटिक या बुर्जवा कह कर घृणा का प्रचार किया जाता है :—

"तुम्हे भेटने की आशा मे
चंचल तन की पुलकावलियाँ
सूखे अधर मधुर मद प्यासे
रस के प्यासे लोचन बालम"

—नरेन्द्र

"नस नस में छलक छलक उठती
कैसी तृष्णा मदिरा अज्ञात
किस नव तरंग से कसक वक्ष
कर रहा प्रबल उन्मन घात"

—अंचल

यहाँ तक हुई उपमानो की बात। अब प्रतीको को लीजिए। इन्हें स्वभावतः अशक्त और शिथिल होना ही चाहिए क्योकि प्रतीक वही कहा जा सकता है जिसके नाम मात्र से किसी भाव का सचार हो जाता है और यह तभी सम्भव है जब उसका हमारा संस्कारगत साहचर्य हो, उसके साथ हमारा कोई भाव आदि काल से लिपटा चला आता हो। प्रगतिवाद में इसकी गुंजायश बहुत कम है क्योकि वह पुरातन को घृणा की दृष्टि से देखता है और 'नव संस्कृति' से जिसका रूप-निर्माण होनेवाला है (अभी हुआ नही है) प्रेम करता है। अतः बिना परिचय का

जैसा उसका प्रेम वैसे ही उनके प्रतीक भी समझिये—सर्वथा एक-देशीय, वैयक्तिक तथा घृणित। जैसे जोंक, उल्लू, खूनी, हरामी के पिल्ले इत्यादि। जिस प्रकार उसे परम्परागत उपमाएँ इष्ट नहीं उसी प्रकार पुराने प्रतीक भी पसन्द नही।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि लक्षणा के बल पर बहुत सुन्दर अप्रस्तुत-विधान होता है। इससे अगोचर भावो को गोचर रूप तो मिलता ही है साथ ही भाषा में वक्रता तथा कथन में चमत्कार आ जाता है। प्रगतिवादी को यह सब इष्ट नहीं। इसलिए—

"भरा दूर तक उनमें दारुण दैन्य दुख का नीरव रोदन"

"पापी महलो का अहंकार देता मुझको तव आमत्रण"

"उस बड़े नगर का राग-रंग हँस रहा निरन्तर पागल सा"

इत्यादि के से लक्षणामूलक अलकारो के अनेक उदाहरण ढूंढ़ने से मिल जाते है, पर इसे छायावाद के अवशिष्ट सस्कार के रूप में ही मानना चाहिए—रचना-विधान की प्रवृत्ति नही। अत. विशेषण-विपर्यय, नर-रूपक (मानवीकरण) ऐसे अलकार कठिनाई से मिलेंगे। हॉ रूढ़ि लक्षणा (महावरो) का प्रयोग बराबर मिलता है—

"आजादी की कलियॉ फूटी
पॉच साल मे होगे फूल।
पाँच साल मे फल निकलेंगे
रहे पंत जी झूला झूल।

पाँच साल कम खाओ भैया
गम खाओ दस-पन्द्रह साल-
अपने ही हाथो से झोंको
यो अपनी आँखों में धूल"

अर्थ की स्पष्टता की ओर विशेष लक्ष्य होने अथवा प्रतिक्रिया की गहरी भावना के कारण रूपकातिशयोक्ति, समासोक्ति ऐसे अर्थ-गर्भित अलकारो का विधान भी कम मिलता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रगतिवाद के अप्रस्तुत विधान मे कोई ऐसी बात नही है जो नई काव्यधारा की विशेषता कही जाय। हॉ, एक बात अवश्य है। जैसा कि इसके प्रस्तुत पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि प्रगतिवाद का मूल स्रोत घृणा है। कहने की आवश्यकता नही कि उसके प्रकाशन के लिए व्यंग का विधान सबसे अच्छा साधन है। प्रगतिवादी कविता मे यह प्रचुरता से मिलता है जो कभी व्याजनिन्दा का और कभी अन्योक्ति का सहारा लेकर चलता है। अत काव्य-धारा की विशेषता के रूप में आए हुए अलकारो मे इन्ही दोनो को यदि मानना हो तो माना जा सकता है।

अब थोड़ा सा विचार छदो पर कर लेना चाहिए। कविता मे छदों का उपयोग नाद-सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए होता

वृत्त

है। कविता और संगीत का सबंध आदिकाल से चला आ रहा है। यह कविता का इतना आवश्यक अंग है कि एक अँगरेज समालोचक

कविता और सगीत मे विशेष अतर नही मानता। उसका कहना है कि संगीत कविता का जनक और उसका स्वरूप है। * छंदोबद्ध रचना कर्ण-सुखद ही नही होती वरन् भावोन्मेष भी करती है। इसका प्रमाण यही है कि मरसिया का अर्थ हम समझे या न समझें किन्तु उसे सुनकर हमे शोक की अनुभूति होती ही है। इस प्रकार आल्हा के सुने हुए स्फुट शब्द हममें थोड़ी देर के लिए वीर भावना जागरित कर ही देते हैं। मालिनी, हरिगीतिका, पीयूष-वर्षण, रूपमाला और सखी छन्दो से दीनता, कातरता और उद्विग्नता टपकती-सी रहती है। इतना ही नही, जब हम भावोन्मेष में होते है तो सभवतः हमारे मुख से लययुक्त वचनावली निकलती ही है। इससे सिद्ध होता है कि सगीत और भावो का कुछ नैसर्गिक सम्बन्ध है। भावो का सम्बन्ध कविता से है। अतः संगीत कविता का एक आवश्यक अंग ठहरता है।

नाद-तत्व की रक्षा करने के लिए साहित्य-शास्त्र में छंदो का विधान किया गया है। छंद मुख्यतया दो बातों—(१) लय और (२) तुक पर चलते है। हिंदी-कविता मे लय के लिए गिने हुए वर्ण अथवा मात्राएँ रखी जाती है। जिस छंद की लय वर्णों पर निर्भर रहती है उसे वर्णिक छंद या वर्णवृत्त कहते है और जहाँ मात्राओ पर निर्भर रहती है उसे मात्रिक छद या जाति कहते हैं।

---

*Poetry was born of music and is a form of music.

E A Greening Lamborn

हमारी प्राचीन हिंदी-कविता में दोनों प्रकार के छंद पाए जाते हैं। वर्ण-वृत्त तो उसे संस्कृत से मिले और मात्रिक छंद उसके अपने हैं। यही कारण है कि आदि काल से ही उसका झुकाव संस्कृत के वर्ण-वृत्तो की ओर बहुत कम रहा। केशव ऐसे २-४ संस्कृत प्रेमी कवियों ने ही संस्कृत के वर्ण-वृत्तों में कविता की। पर यहाँ भी एक भेद स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। संस्कृत वृत्त प्रायः अंत्यानुप्रास मुक्त थे, पर इन कवियों के छन्द उस बन्धन से बँधे रहे। हिंदी के वर्ण-वृत्तों में से कवित्त और सवैये हैं। ब्रज-भाषा काव्य में अधिकतर इन्हीं का ग्रहण हुआ। मात्रिक छन्दो में से अत्र-तत्र दोहों का प्रयोग हुआ और कृष्ण-काव्य गीतों मे लिखा गया। इस प्रकार ब्रज-भाषा काव्य मे वर्णिक और मात्रिक दोनो प्रकार के छंदों के साथ-साथ कुछ संस्कृत वृत्तों का भी प्रयोग हुआ। पर अवधी ने केवल मात्रिक छन्द—दोहा, चौपाई और बरवै अपनाए। भारतेदु काल परिवर्तन काल था। उस समय जहॉ अनेक प्रकार के परिवर्तन दिखाई पड़े वहॉ छन्द के सम्बन्ध मे भी लोगो की प्रवृत्ति बदली। कुछ दिन रोळा का चलन अधिक रहा। हिंदी-छन्दो के साथ खड़ी बोली मे उर्दू के छन्द भी प्रयोग में आने लगे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वय उर्दू बहरो में रचना की। उर्दू साहित्य मे खड़ी बोली फारसी की बहरों मे पहले ही ढल चुकी थी। इससे खड़ी बोली के लिए कुछ लोगो ने उर्दू के छन्द ही उपयुक्त समझे। हरिऔधजी की प्रारम्भिक कविताऍ उर्दू-

छन्द लेकर ही उठीं। इसके अनन्तर द्विवेदी काल में लोगो की प्रवृत्ति सस्कृत की ओर गई। संस्कृत समास-सन्धि-बहुला और विभक्ति-प्रधान भाषा है। अतः संस्कृत-गर्भित भाषा के लिए वर्णिक छन्द ही अधिक उपयुक्त हो सकते है। उसके नाद-सौंदर्य की रक्षा वर्ण-वृत्त मे ही हो सकती है। अत. इस काल मे हिंदी मे तत्सम शब्दो की प्रचुरता के साथ-साथ सस्कृत-छन्दो की भी अधिकता होने लगी। उपाध्याय जी के 'प्रिय-प्रवास' में यह प्रवृत्ति भी सीमा तक पहुॅच गई। उन्होने संस्कृत वृत्त तो अपनाए ही साथ ही सस्कृत के ढर्रे पर उसे अंत्यानुप्रास मुक्त भी किया। पर यह प्रवृत्ति हिंदी के अनुकूल न थी। उसके नाद-सौंदर्य की स्वाभाविकता जितनी मात्रिक छन्दो मे दिखलाई पड़ती है उतनी वर्ण-वृत्तो में नहीं। सस्कृत के सयुक्ताक्षर के पूर्व वाले अक्षर को जिस प्रकार गुरु पढ़ा जाता है उसी प्रकार यदि हिंदी मे भी उच्चारण किया जाय तो वह भद्दा दिखलाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिंदी को 'गणो' का बन्धन सह्य नही है। अतः प्रसाद-काल मे कवियो की रुचि मात्रिक छन्दो की ओर गई— हिंदी के अपने छन्द—रोला, छप्पय, गीतिका, सार, सरसी, वीर आदि आग्रहपूर्वक अपनाए ही गए साथ ही नये-नये प्रयोग भी हुए। दो छन्दो के योग से बने हुए छप्पय आदि मात्रिक विषम छन्द पहले से चले आ रहे थे। इस काल मे इनकी संख्या और भी बढ़ी। कई प्राचीन छन्दो को मिलाकर एक नये छन्द की रचना की जाने लगी। बात मिश्र छन्दो तक ही न रही,

असम मात्रिक छद भी प्रचुर मात्रा मे लिखे गए। जैसे नीचे के छंद-बन्ध मे मात्राओ की कोई नियमित व्यवस्था नहीं है। पहला चरण ११ मात्राओ का है तो दूसरा १६ का और तीसरा १२ का है। चौथा दूसरे के मेल मे है जो पहले और तीसरे के मेल मे भी रखा जा सकता था।

"हाय किसके उर मे
उतारूँ अपने उर का भार
किसे अब दूँ उपहार—
गूँथ यह अश्रु-कणो का हार"

—पंत

नूतन छद-विधान के लिए कवियो ने उर्दू, अँगरेजी तथा बंगला के छद-विधानो का भी सहारा लिया। हिंदी कविता मे उर्दू के बहरो का प्रयोग तो भारतेंदु बाबू के समय से ही होने लग गया था। आगे चलकर लाला भगवानदीन और अयोध्यासिह उपाध्याय ने तो पूरे ग्रंथ के ग्रंथ इसी मे लिख डाले*। प्रसादकाल मे कुछ कवियो ने रुबाइयाँ लिखी। अँगरेजी के सानेट के ढंग पर प्रसाद, पंत और गुप्तजी ने चतुर्दश पदियाँ लिखी। इसी प्रकार बँगला के त्रिपदी और पयार छंदो का अनुकरण किया गया। नूतन छद-विधान की यह प्रवृत्ति यहीं तक परिमित न रही वरन् स्वछंदता की ओर उन्मुख हो

* देखिए लालाजी कृत 'वीर-पचरत्न' और उपाध्यायजी कृत 'बोल-चाल' 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे'।

गई—नए-नए छंद लिखे जाने लगे। यहाँ तक कि छंद-विहीन कविता भी लिखी जाने लगी साथ ही पुराने छंदो मे भी कुछ उलट-फेर होने लगा।* निरालाजी ने 'रबड़-छद' लिखे, पचवटी प्रसंग मे छंद ढूँढ़ना असभव है। उदाहरण लीजिए—

"कितना सुबोध है !
आज्ञापालन के सिवा कुछ भी नही जानता है
आता है सामने तो सिर झुका
दृष्टि चरणों की ओर रखता है
कहता है बालक इव–'क्या है आदेश माता ?'"

—निराला

किंतु उस समय इस प्रवृत्ति ने जोर नही पकड़ा। अब प्रगतिवादी उसका अनुसरण कर रहे हैं। निराला और पत ने मुक्त छंदो का जो व्यवहार किया था उसमे लय की एक सुनिश्चित प्रणाली थी—पंक्तियो के आकार के साथ भाव और अर्थ की गति चलती थी। पर प्रगतिवादी इस ओर ध्यान नही देते। फलतः उनके छद और गद्य मे कोई अंतर प्रतीत नही होता। दो-एक उदाहरण लीजिए—

"जो हो, मुझे दीखते हो तुम कछुए
मानो भारत संस्कृत के प्रतीक

---

* देखिए श्रीरामाज्ञा द्विवेदी कृत 'सौरभ' जिसमे कवित्त के चार चरणो के स्थान मे छः चरण हो गए हैं।

जिसे जरा सो छुए ना छुए
नये ज्ञान की सूक्ष्म सी लहर
कि वह सिहर कर
छुई मुई सी बन जावेगी सिमट-सुमुट कर
गुडी-मुडी सी—
अविचल, सिर्फ गाँठ ही गाँठ
नकारात्मक दिखला देगी
कर्री, चिकनी, निपट पीठ ही पीठ"

—प्रभाकर माचवे

"अधिकांश जनता का
रद्दी की टोकरी का जीवन है,
संज्ञाहीन, अर्थहीन,
बेकार, चिर-फटे टुकडो सा पडा है
....
काटो काटो काटो करबी
मारो मारो मारो हँसिया"

—केदार

इस प्रकार के अनेक कवियों के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जो या तो गद्य हैं या थोड़े से परिवर्तन से ही गद्य हो जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि नवीनता के झोंक में इस प्रकार के छद-विधान से कविता का स्वरूप कितना विकृत हो रहा है, अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेषणीयता कितनी नष्ट हो

रही है* जिसकी रक्षा करना प्राचीन कवि अपना कर्तव्य मानते आए हैं। अस्तु, नए छंदो का विधान श्लाघ्य होते हुए भी छंद-विहीन कविता उचित नही कही जा सकती।

प्राचीन कविता मे छंद के चरणो की योजना इस प्रकार होती थी कि एक चरण मे एक विचार (आयडिया) आ जाय। पर आजकल की कविताओ मे वाक्य चरण के बीच मे भी पूरे हो जाते है—

---

* "...छन्द वास्तव मे बँधी हुई लय के भिन्न-भिन्न ढाँचो (पैटर्न्स) का योग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है। लय-स्वर के चढाव-उतार छोटे-छोटे ढाँचे ही है जो किसी छन्द के चरण के भीतर न्यस्त रहते है।

छन्द द्वारा होता यह है कि इन ढाँचो की मिति और इनके योग की मिति दोनो श्रोता को ज्ञात हो जाती है जिससे वह भीतर-ही-भीतर पढनेवाले के साथ-ही-साथ उसकी नाद की गति मे योग देता चलता है। गाना सुनने के शौकीन गवैये के मुँह से किसी पद के पूरे होते-होते उसे किस प्रकार लोक लेते है, यह बराबर देखा जाता है। लय तथा लय के योग की मिति बिल्कुल अज्ञात रहने से यह बात नही हो सकती। जब तक कवि आप ही गा कर अपनी लय का ठीक-ठीक पता न देगा तब तक पाठक अपने मन मे उसका ठीक-ठीक अनुसरण न कर सकेगा। अतः छंन्द के बन्धन के सर्वथा त्याग मे हमे तो अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता (कमूनिकेविलिटी आव् साउण्ड इमपल्स) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पडता है।"

—'काव्य मे रहस्यवाद' से

"यह अमूल्य मोती का साज,
इन सुवर्णमय, सरस परों मे
शुचि-स्वभाव से भरे सरो मे
तुझको पहना जगत देख ले;—यह स्वर्गीय प्रकाश !
मन्द, विद्युत - सा हँसा कर"

—पन्त

"तो बचने के लिए शत्रु के सामने,
पीठ करोगे ? नही, कभी ऐसा नही
दृढ़प्रतिज्ञ यह हृदय, तुम्हारी ढाल बन
तुम्हे बचावेगा। इस पर भी ध्यान दो
घोर अँधेरे मे उठती जब लहर हो
तुमुल घात प्रतिघात पवन का हो रहा
.. . ..
छोड कूदना तिनके का अवलंबन ले
घोर सिंधु मे, क्या बुधजन का काम है ?"

—प्रसाद

इसका परिणाम यह होता है कि नाद और विचार साथ-साथ नहीं चल पाते। यदि विचार या वाक्य के अनुसार कविता पढ़ी गई तो नाद-सौन्दर्य में बाधा पड़ती है और यदि नाद-सौंदर्य की पूर्ण रक्षा की गई तो अर्थ के बोध-गम्य होने में कठिनाई आ उपस्थित होती है। फिर भी यह प्रवृत्ति उतनी हानिकारक नही

कही जा सकती जितनी उपर्युक्त है क्योंकि उससे नाद-सौन्दर्य का ह्रास होता है और इससे अधिक-से-अधिक यही होता है कि कविता के नाद-तत्त्व और विचार-तत्त्व अलग-अलग हो जाते हैं—विचार के लिए कविता पढ़ी जा सकती है और नाद का आनन्द उठाने के लिए वही सुनी जा सकती है। एक बार मे न सही, दो बार मे कविता का आनन्द आ ही जायगा।

यहाँ थोड़ा सा अन्त्यानुप्रास (तुक) पर विचार कर लेना चाहिये। तुक कितना महत्त्वपूर्ण है यह नवीन कविता के प्रतिनिधि-कवि श्रीसुमित्रानदन पंत के ही शब्दो मे देखिए—"तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पंदन विशेष रूप से सुनाई पड़ता है।

तुक

राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानो अंत्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केंद्रित रहती, जहाँ से नवीन बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहण करके छंद के शरीर में स्फूर्ति संचार करती हैं। जो स्थान ताल में 'सम' का है, वही स्थान छंद में तुक का,........। जिस प्रकार अपने आरोह-अवरोह में रागवादी स्वर पर बारबार ठहरकर अपना रूप-विशेष व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लय-युक्त हो जाता है।........प्रत्येक वाक्य के प्राण शब्द-विशेष पर निहित अथवा अवलंबित रहते हैं शेष शब्द उसकी पूर्ति के लिए, भाव को स्पष्ट करने के लिए, सहायक-मात्र होते हैं। उस शब्द को हटा देने से सारा वाक्य अर्थ-शून्य, हृदय-हीन-सा हो जाता है।

वाक्य की डाल में, अपने अन्य सहचरों की हरीतिमा से सुसज्जित, यह शब्द नीड़ की तरह छिपा रहता है, जिसके भीतर से भावना की कोकिला बोल उठती, और वाक्य का प्रत्येक पत्र उसके राग को अपनी मर्मर ध्वनि मे प्रतिध्वनित कर परिपुष्ट करता है, इसी शब्द-सम्राट् के भाल पर तुक का मुकुट शोभा देता है। इसका कारण यह है कि अंत्यानुप्रास वाला शब्द राग की आवृत्ति से सशक्त होकर हमारा ध्यान आकर्षित करता रहता है, अत वाक्य का प्रधान शब्द होने के कारण यह भाव के हृदयंगम कराने मे भी सहायता दे सकता है।" वस्तुतः कविता में तुक की योजना नाद-सौंदर्य की अभिवृद्धि के लिए की जाती है। संस्कृत के गण-बद्ध लम्बे चरण वाले छन्दो के लय मे नाद की इतनी वृद्धि स्वत. हो जाती है कि उसमें अंत्यानुप्रास की अपेक्षा नही रहती। इसीलिए उसके वर्ण वृत्त भिन्न तुकान्त होते थे। पर हिंदी के पुराने कवियो ने उन्हे भी तुक से बॉध डाला। फिर हिंदी के मात्रिक छन्दो (जो अपेक्षाकृत लघु चरण के होते है) को तुकमुक्त कैसे करते ? यही कारण है कि पुरानी कविता में तुक बराबर मिलता है। पर आजकल के कवि सोचते हैं कि तुक की चिंता में भावों की स्वच्छंदता नहीं रह जाती, भाव और भाषा का सामंजस्य नहीं निभाया जा सकता। भावना को छंद के ढॉचे में भर देना पड़ता है और पादपूर्ति के लिए आवश्यक शब्द भी रख देने पड़ते हैं। अस्तु, अँगरेजी-बँगला कविता (Blank Verse) की देखादेखी आधुनिक काल की हिंदी में

भी उसी प्रकार की कविता होने लगी। 'प्रियप्रवास' इस प्रकार की रचना का सुंदर उदाहरण है। उक्त ग्रंथ को देखकर कहा जा सकता है कि अतुकांत कविता अच्छी हो सकती है। बात ठीक भी है। पर छंद से जो नाद-सौंदर्य आता है वह तुक से और भी बढ़ जाता है*। इसके साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रिय-प्रवास में प्रयुक्त छंद संस्कृत के वर्णवृत्त हैं जो (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) कि प्रारंभ से ही तुक विहीन रहे आए हैं। अतः उनमें तुक का अभाव नहीं खटकता। पर हिंदी के मात्रिक छंदों को अतुकांत करके भी उनमें नाद-सौंदर्य का उपयुक्त विधान सबके वश की बात नहीं। यही कारण है कि इसका प्रयोग छायावादी कविता मे किया तो बहुतेरों ने, पर सफल प्रसाद-पंत ऐसे २–१ कवि ही हो सके। वे भी अंत तक टिके नहीं। आगे चलकर उन्हे भी तुक को अपनाना पड़ा।

---

*"जो लोग अत्यानुप्रास की आवश्यकता नही समझते उनसे मुझे यही पूछना है कि अन्त्यानुप्रास ही पर इतना कोप क्यो ? छद और तुक दोनो ही नाद-सौदर्य के उद्देश्य से रखे गये है। फिर क्यो एक निकाला जाय दूसरा नही ? यदि कहा जाय कि सिर्फ छद ही से उस उद्देश्य की सिद्धि हो जाती है तो यह जानने की इच्छा बनी रहती है कि क्या कविता के लिए नाद-सौदर्य की कोई सीमा नियत है ? यदि किसी कविता मे भाव-सौदर्य के साथ नाद-सौदर्य भी वर्तमान हो तो वह अधिक ओजस्विनी और चिरस्थायिनी होगी।"

—आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल

रही भावों की परतंत्रता की बात। यह बात बहुत नहीं जँचती। आजकल के कवि भी तुक की परतंत्रता न सही, पर किसी न किसी बंधन में बॅधते ही हैं।* यहाॅ भी तो भावों की स्वच्छंदता में बाधा पड़ती ही है। फिर उसका त्याग क्यों नहीं करते ? इसके अतिरिक्त यह भी प्रश्न उठता है कि सूर, तुलसी इत्यादि महा कवियों के भाव इस बंधन के कारण क्यों नहीं गड़-बड़ हुए। अस्तु, हिंदी की भिन्न तुकांत कविता को स्वच्छंदवादी प्रवृत्ति मात्र समझना चाहिए जिसका प्रयोग कविगण अपने बौद्धिक संतोष के लिए करते है। हिंदी के लिए वह अभिव्यक्ति की कोई विशिष्ट प्रणाली नहीं है, उलटे वह उसकी प्रकृति के विरुद्ध पड़ती है। खेद है कि प्रगतिवादी कवि इसे भूलकर भिन्न तुकांत कविता की ओर ऑख मूँद कर पुनः पिल पड़े हैं और अन्त्या-नुप्रास विहीन मुक्त छंदों का प्रयोग करके काव्यात्मकता का ही ह्रास नहीं कर रहे हैं वरन् अपने सिद्धान्त को भी चौपट कर रहे हैं। वे अपने को अपढ़ जनता का कवि कहते हैं और सरल अभिव्यक्ति-प्रणाली द्वारा उन तक पहुॅचने का सिद्धांत तो बनाए हुए हैं किंतु यह कभी नहीं सोचते कि बेतुकी कविता कवि-कर्म को सरल बनाती है, सर्व सामान्य तक पहुँचने के लिए अपना मार्ग सरल नहीं करती। मार्ग की सरलता कर्ता के यत्न और श्रम की

---

* देखिए पल्लव की भूमिका, पृष्ठ ४५ "...बीच बीच में छद की एकस्वरता तोड़ने तथा भावाभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार उसके चरण घटा बढा दिए गए है......"

अपेक्षा करती है। अस्तु, कविता को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए गेयता का मार्ग प्रशस्त करना ही पड़ेगा और उसके लिए किसी बँधी प्रणाली (छंद) के साथ तुक का सहारा लेना ही पड़ेगा।

गीत

गेयता की चर्चा चलते ही ध्यान स्वभावतः गीत-काव्य की ओर चला जाता है जहाँ गेयता अपनी सारी औपचारिकता के साथ वर्तमान रहती है। अतः लगे हाथ उस पर भी विचार कर लेना चाहिए।

हृदय की तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति के दो ढाँचे हैं, १—प्रबंध, २—गीत। प्रबध में व्याख्या होती है। जड़ और चेतन प्रकृति के स्वरूप, व्यापार और विभिन्न संबंधो का वर्णन होता है। जीवन के प्रत्यक्ष क्रिया-कलाप का क्रमबद्ध विवेचन होता है। अतः इसके रचयिता की दृष्टि सदैव बहिर्मुखी होती है। गीत इससे सर्वथा भिन्न है। इसमें व्याख्या का नाम नहीं। इसमें दृश्य जगत् के चित्रण का वैसा प्रयास नहीं। यह वर्णनात्मक न होकर अधिकतर वेदनात्मक होता है। इसके उद्गार भी आकस्मिक और वेगवान होते हैं। अतः इसके लिए कथा का आधार अपेक्षित नहीं। इसीलिए इसमें क्रमबद्धता का प्रश्न ही नही उठता। गीतकार की दृष्टि अधिकतर अन्तर्मुखी होती है। वह वेदना के स्वरूप उसकी गति आदि पर जितनी दृष्टि रखता है उतनी गृहीत वर्ण्यवस्तु या विषय पर नहीं।

किंतु इससे यह न समझना चाहिए कि प्रबंध और गीत एक दूसरे से सर्वथा भिन्न रहनेवाले होते हैं। दोनो सम्बद्ध रूप में भी रह सकते हैं। प्रबंध में गीत के समावेश की और गीत में कथा का आधार-ग्रहण की गुंजाइश बराबर रहती है। अस्तु, गीत के दो रूप मिलते हैं। एक है प्रबंध-गीत और दूसरा है मुक्तक-गीत। प्रबंध-गीत में किसी न किसी कथा-वस्तु का विशेष आश्रय लिया जाता है। इसके लिए अधिकतर प्रेम-कहानी विशेष उपयुक्त होती है। संगीत इसकी प्रमुख विशेषता है। प्रबंध-काव्य और प्रबध गीतों में अंतर यह है कि पहले में कथा का सम्बन्ध-निर्वाह चाहे वह कितना ही विच्छिन्न क्यों न हो, थोड़ा-बहुत रहता अवश्य है, पर प्रबंध-गीतो मे इसकी कोई आवश्यकता नहीं। दूसरी बात यह है कि प्रबन्ध-काव्य अधिकतर वर्णनात्मक होता है और प्रबंध-गीत मे वेदना प्रधान होती है।

गीत के क्षेत्र दो हैं। एक ओर तो वह साहित्य की श्रीवृद्धि करता है और दूसरी ओर वह साधारण जनता का रंजन करता हैं। साहित्यिक गीत संस्कृत होता है। उसमे कलात्मकता रहती है। उसकी भाषा सुष्ठु, भावानुकूल और परिमार्जित होती है, कल्पना और भावो का निदर्शन काव्य-नियमो के अनुरूप होता है। लोक-गीत मे स्वाभाविकता विशेष पाई जाती है। इसमें कृत्रिमता और कला-प्रयोग का नाम नहीं। इसमे सरलता की मिठास और स्पष्टता का आकर्षण होता है। साहित्यिक गीत

जहाँ परिमार्जित रुचि वाले शिक्षित समुदाय को आनंदित करता है, लोक-गीत साधारण समाज के असंख्य नर-नारियो का मनोरंजन करता है और उनकी भावनाओ एवं मनोवृत्तियों को अज्ञात रूप से प्रभावित कर संस्कृति की रक्षा और निर्माण में भी योग देता है।

साहित्यिक गीत और लोक-गीत दोनों में हम प्रबंध और मुक्तक रूप पाते हैं। प्रबंध-गीत में प्रबंध-काव्य की भाँति ही कथा, कथोपकथन और भावाभिव्यक्ति होती है। इन चारों प्रमुख तत्वो मे, प्रबंध-गीत में भावाभिव्यक्ति पर अधिक ध्यान दिया जाता है। प्रबंध-गीतो में प्रेम और वीरता के भाव अधिक व्यक्त रहते है। मुक्तक गीत की अपेक्षा प्रबध-गीत में कवि की कृति अधिक बंधनो मे बँधी रहती है। उसमे कथा-सूत्र भी मिल जाता है, वर्णन भी थोड़ा-बहुत रहता है और कथोपकथन भी यत्र-तत्र पाए जाते है। प्रबध-काव्य और प्रबंध-गीतो को ले तो पहले में रस की धारा होती है वहाँ दूसरे में रसोत्कर्ष प्रसंगपरक होता है और उसके खड-चित्रों के अनुरूप उसके प्रभाव विविध होते है। प्रबंध-गीत की उससे यह भी भिन्नता है कि यह गेय होता है और संगीत के नियमो के अनुसार अधिकतर इसकी रचना होती है। मुक्तक-गीत इनसे सर्वथा पृथक् है। इसमे कथा तो प्रायः होती ही नही। वर्णन और कथोपकथन भी या तो रहते ही नही, यदि रहते भी हैं तो कथा की पुष्टि के लिए नहीं, प्रत्युत भावो की तीव्रता के लिए। मुक्तक-गीत से

प्रगीत मुक्तक (लीरिक्स) अपना पृथक् स्थान रखते है और इन पर पाश्चात्य कला-नियमो का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसमें एक अनुभूति पर जोर दिया जाता है और वह अनुभूति भी ऐसी होनी चाहिए जो आत्मगत हो। पर गीत चाहे जिस प्रकार का हो, किंतु उन सब में गेयता की एक-सूत्रता अनिवार्य है। इसके लिए 'स्थायी' और 'अंतरा' का विधान किया जाता है। 'स्थायी' में भाव-बीज होता है और उसका आवर्तन गीत के विविध बंधो को एक सूत्र मे ग्रथित करता रहता है। यही एकसूत्रता अन्य छन्दो की लयजन्य गेयता से गीतात्मक गेयता को पृथक् करता है। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि गीत में लयजन्य गेयता के अतिरिक्त एकसूत्रता से बँधे हुए विविध बंध भी होते हैं।

यहाँ तक हुई गीत-काव्य के प्रकार की बात। अब हिन्दी साहित्य में उसकी परम्परा पर विचार करना चाहिए। हिन्दी के प्रारम्भ काल में ही हमें प्रबन्ध गीतों के दर्शन होते हैं। 'वीसलदेव रासो' शृंगार-प्रधान प्रबन्ध-गीत ही तो है। इसमें संयोग और वियोग दोनो अवस्थाओं के भावुक उद्गार भरे पड़े हैं। इसी समय के आसपास जागनिक का लिखा हुआ 'आल्हा खंड' वीर रस पूर्ण गीत-ग्रन्थ है। यह भी प्रबन्ध-गीत है जिसमें आल्हा-ऊदल आदि वीरों के साहसपूर्ण कृत्यों का पृथक पृथक् प्रसंगानुसार वर्णन हुआ है। ये प्रबन्ध-गीत साहित्यिक दृष्टि से कला-पूर्ण और तीव्र भाव-वेगों से ओत-प्रोत हैं।

हिन्दी के 'वीरगाथा काल' के उपरान्त ही मिथिला की अमराइयो में ' मैथिल कोकिल' के स्वरो में वह स्वर्ग-संगीत छिड़ा जो शीघ्र ही भारत मे गूँज उठा और जिसकी संगीत-लहरी से सारा काव्योपवन लहरा उठा। विद्यापति के पद हिंदी साहित्य में पदबद्ध मुक्तक गीत-काव्य के पथ-प्रदर्शक हैं और सूर आदि सभी कृष्णभक्त कवि छंद, शैली और संगीत के विचार से विद्यापति के आभारी है। कृष्णभक्त कवियो के अतिरिक्त रामोपासक तथा निर्गुण-पथी कवियो ने भी मुक्तक गीत लिखे जो क्रमशः पद, भजन और सबद कहे जाते हैं। भक्तिकाल के गीतो मे भक्ति-मिश्रित आवेगपूर्ण मधुर वर्णन और निर्बंध उद्गार मिलते हैं। इस काल में साहित्यिक गीतो के अतिरिक्त लोक-गीतो की धारा भी अक्षुण्ण रूपसे बहती रही। जन्म के गीत, उपनयन-विवाह के गीत, उत्सवो के गीत, गृहस्थी के गीत इस प्रकार अनेक रूपो में गीत प्रचलित रहे। ये गीत पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो में अधिक प्रचलित हुए और स्त्री वर्ग मे अभीतक चलते आ रहे हैं। हमारे ग्राम-गीतो में भारतीय संस्कृति और लोक-वाणी की परम्परा सुरक्षित है।

भक्ति-काल के पश्चात् साहित्य मे विलासपूर्ण शृंगारी रचनाओं का युग आया। कला-प्रदर्शन और चमत्कार को ध्येय माना जाने लगा। इस युग मे मुक्तक रचनाएँ तो हुईं किन्तु भावप्रधान संवेदनापूर्ण गीत कम रचे गए क्योंकि रीतिकाल में उदाहरणो का संग्रह होने लगा और कवित्त, सवैये, दोहे आदि

छन्दो की धूम रही। पदों की ओर वे ही गए जो कृष्ण-काव्य लिखना चाहते थे और जिनका उद्देश्य उदाहरण प्रस्तुत करना नहीं था। फलतः गीत-रचना का क्रमशः ह्रास होता गया।

आधुनिक काल मे फिर पासा पलटा। कवियो ने भक्ति-काल से चली आती हुई पद-परम्परा को पुनः ग्रहण किया। भारतेन्दु, प्रेमघन, श्रीधर पाठक, उपाध्यायजी, देवीप्रसाद गुप्त इत्यादि सभी कवियो ने अनेक गीत लिखे। जिस प्रकार कविता के और क्षेत्रो में उसी प्रकार गीत-रचना में भी उर्दू-साहित्य का प्रभाव पड़ा और गजल-गीत लिखे गए। पद-गीत में पहला चरण 'स्थायी' होता था और उसके उपरान्त के प्रत्येक दो चरण तुकांत होकर 'अंतरा' में आते थे। गजल-गीत में प्रथम दो चरण स्थायी होने लगे और क्रमशः भिन्न-तुकांत तथा तुकांत चरण की योजना की जाने लगी। इस शैली मे अनेक राष्ट्रीय गीत लिखे गए—कुछ साहित्यिक और कुछ लोकगीत। आगे चलकर पद और गजल-शैली का सुन्दर समन्वय किया गया। छायावादी कवियो पर अंगरेजी साहित्य का भी प्रभाव पड़ा जिसके कारण 'सानेट' 'ओड' 'बैलेड' इत्यादि के अंगरेजी ढंग के प्रगीत लिखे गए और गीत की नवीन शैली चल पड़ी। नवीनता केवल छन्द-विन्यास तक ही सीमित न रही, भाव-विन्यास मे भी पहुँच गई। भारत के प्राचीन गीतो में अभ्यन्तर के साथ-साथ बाह्य का भी योग रहता था, किन्तु प्रगीतों की विशेषता बाह्यार्थ-शून्यता मानी गई। छायावादी कविता में गीत का क्या महत्त्व रहा, इसे समझने के

लिए 'गुंजन' की भूमिका पढ़नी चाहिए* और 'पल्लव' तथा 'गुंजन' की शब्दावली पर ध्यान देना चाहिए। पत जी अपनी रचना से एक 'सरगम' तैयार करने लगे जिसका 'सा' स्वर 'पल्लव' मे और 'रे' 'गुंजन' मे है। (पल्लव में 'सा' की अधिकता तथा गुंजन मे 'रे' की है।) निराला जी की रचनाओं में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति लक्षित होती है। इस काल में गीतो की इतनी बाढ़ आई कि इसमें छोटे-बड़े सब प्रकार के कवि बह चले। मुक्तको की कौन कहे प्रबन्ध-काव्यो में भी गीत रखे जाने लगे। गीत का मोह ही है जिसके कारण 'साकेत' की कथा-धारा नवम् सर्ग (ऊर्मिला-विरह वर्णन) मे अवरुद्ध हो गई है। 'कामायनी' में 'इड़ा' की अवतारणा भी इसी दृष्टि से हुई प्रतीत होती है। गीत की इसी अतिशयता के कारण छायावाद-काल को गीत-काल कहा जाने लगा।

जन-समूह के बीच वाणी को पहुँचाने के लिए गीत सरल और प्रबल साधन है। पर प्रतिक्रिया के जोश में प्रगतिवादी कवि इस बात को भूले हुए हैं। फलतः गीत-काव्य का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है और उसका स्थान मुक्त छन्द ले रहे हैं जो प्रायः

---

*"...'पल्लव" की कविताओ मे मुझे 'सा' के बाहुल्य ने भुलाया था, यथा—'...' 'गुजन' मे 'रे' की पुनरुक्ति का मोह नहीं छोड सका ......'सा' से, जो मेरी वाणी का सवादी स्वर एकदम 'रे' हो गया, यह उन्नति का क्रम सगीत प्रेमी पाठको को खटकेगा नही, ऐसा मुझे विश्वास है।"

गद्यवत हो रहे हैं। उनमे न कोई गतियति होती और न स्वरपात की कोई योजना रहती है। फलतः आज न तो—

पुलक-पुलक उर, सिहर-सिहर तन
आज नयन क्यों आते भर - भर

सकुच सलज खिलती शेफाली
अलस मौलश्री डाली - डाली
बुनते नव प्रवाल कुंजो मे
रजत श्याम तारों से जाली

शिथिल मधुप-वन गिन-गिन मधुकण
हरश्रृंगार झरते है झर - झर

पिक की मधुमय वंशी बोली
नाच उठी सुनि अलिनी भोली
अरुण सजल पाटल बरसाता
तुम पर मृदु पराग की रोली

तुम विद्युत् बन, आओ पाहुन।
मेरी पलको मे पग धर - धर"

——महादेवी वर्मा

से स्वानुभूति और गेयत्व से भरे साहित्यिक गीत मिलते और न

भारत पियरवा पै बलि-बलि जाऊँ
बलि-बलि जाऊँ गरवा लगाऊँ
फुलवा मँगाऊँ गजरा गुथाऊँ
नीकी नजरिया पै, जो पै जिगरवा पै

सिजिया बिछाऊँ सजाऊँ सिंगरवा
मैं बलि-बलि जाऊँ।

—श्रीधर पाठक

से लोकगीत लिखे जा रहे हैं। कहीं-कहीं लोक प्रचलित लय पर जो—

शुद्ध कला के पारखी,
कहते हैं उस पार की,
इस दुनिया मे कौन कहे ?
भवसागर मे कौन बहे ?
जै हो राधा रानी की
या जिसने मनमानी की
राधा या अनुराधा से
छिपकर अपने दादा से
कैसी बढिया चाल की
बलिहारी गोपाल की
उनके भक्तो मे से हम
सत्यं शिवं सुन्दरम्

—रामविलास शर्मा

सी रचनाएँ मिल जातीं हैं उसे अपवाद ही समझना चाहिए। अनगढ़, परुष और कुरूप को प्रश्रय देनेवाली प्रगतिवादी कविता में साहित्यिक गीतों का ह्रास तो समझ में आता है, किन्तु सामूहिक चेतना का राग अलापनेवाले लोक-गीत की भी उपेक्षा करें, इसे कविता के दुर्भाग्य के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

अब कला-पक्ष की तीसरी बात आती है और वह है रीति।

सामान्य अर्थ में कहा जा सकता है कि गद्य के क्षेत्र मे जो शैली कहलाती है वही काव्य क्षेत्र में 'रीति' है। जैसे और सब बातों मे वैसे ही अर्थ प्रतिपादन के निमित्त शब्द-योजना मे भी सबकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है। कोई लेखक साधारण अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए भी असाधारण पदावली का प्रयोग करता है तो कोई असाधारण अर्थ के लिए भी साधारण पद-विन्यास करता है। इस प्रकार सबके कथन में अपनी एक विशिष्टता आ जाती है जो उन्हे औरो से पृथक रखती है। लेखक का यही विशिष्ट शब्द-संस्थान और वाक्य-विन्यास उसकी शैली कहलाती है। जब शैली व्यक्तिपरक न होकर वस्तु या रचनापरक हो जाती है तब उसे 'रीति' कहते हैं। अस्तु, जिस अर्थ में शैली (स्टाइल) का प्रयोग होता है ठीक उस अर्थ मे रीति को मानना उचित नहीं प्रतीत होता। व्यक्तिपरक होने के कारण शैली लेखक के व्यक्तित्व का परिचायक होती है और रीति वस्तुपरक होने के कारण काव्य की विशिष्ट पद-रचना की। इसीलिए शैली के सम्बन्ध मे कहा जाता है 'स्टाइल इज दी मैन' (शैली ही मनुष्य है) और रीति के सम्बन्ध में वामन ने कहा है 'रीतिरात्मा काव्यस्य' (काव्य की आत्मा 'रीति' है) उन्होंने विशिष्ट पद-रचना को 'रीति' जो कहा है* उससे भी यही बात लक्षित होती है।

रीति

* विशिष्ट पद-रचना रीतिः।

—काव्यालकार सूत्र

व्यक्तिपरक होने के कारण शैलियाँ अनेक हो सकती हैं और होती है, पर रीतियाँ तीन ही मानी गई हैं—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली। इनके नामो से पता चलता है कि विदर्भ देश (बरार) के कवि काव्य-रचना में जिस मार्ग का ग्रहण करते थे वह वैदर्भी कहलाता था। गौड़ देश (बंगाल) की प्रणाली को गौड़ी और पाञ्चाल की प्रणाली को पाञ्चाली कहा जाता था। इस दृष्टि से ये प्रदेश की विशेषता की परिचायिका थी अर्थात् इनके द्वारा प्रदेशगत व्यक्तियो के व्यक्तित्व का पता चलता था। अस्तु, आरम्भ में इनका प्रयोग ठीक उसी अर्थ में होता था जिस अर्थ मे आज शैली का प्रयोग होता है। आगे चल कर दंडी ने वैदर्भी रीति को सुकुमार मार्ग, गौड़ी को विचित्र मार्ग और पांचाली को मध्यम मार्ग कहा और विशेषता या व्यक्तित्व के स्थान में काव्य को दृष्टि में रख कर उनका विवेचन किया। अभी तक विद्वान् सरल तथा सरस शब्द समन्वित होने के कारण वैदर्भी को उत्तम और शब्दाडम्बर पूर्ण गौड़ी को निकृष्ट कहा करते थे। भामह ने इस मत का खंडन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि काव्य से निरपेक्ष होकर कोई रीति न श्रेष्ठ हो सकती है और न निकृष्ट। काव्य में सबका अपना अपना स्थान है। अपने अपने स्थान मे सबकी शोभा है; उससे अलग नही। शृंगार मे यदि वैदर्भी उत्तम है तो वीर में गौड़ी भी। इस प्रकार उन्होंने रीतियों को काव्यपरक स्वीकार किया। मम्मट ने आगे चलकर रीति को वृत्ति सज्ञा दी। फलतः वैदर्भी, पांचाली तथा गौड़ी के स्थान

में क्रमशः उपनागरिका, कोमला और परुषा वृत्तियों का प्रयोग होने लगा*।

जैसे कला के और पक्ष वैसे ही रीति का विधान भी रस-निष्पत्ति में योग देने के लिए ही होता है। शब्द का अर्थ जो भाव दे रहा है उसके अनुकूल यदि उसके नाद का प्रभाव भी हुआ तो रसानुभूति निर्बाध हो जाती है। अतः काव्य में शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए रीति का विधान आवश्यक है। प्राचीन कविता में शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए रसों के अनुसार कोमल अथवा परुष वर्णों का प्रयोग कवि किया करते थे। वे शृंगार,करुण और हास्यरस की कविता उपनागरिका में, रौद्र, वीर और भयानक रस की कविता परुषा वृत्ति में लिखते थे। इसके लिए वे भाषा को विकृत करने तक में भी संकोच नहीं करते थे। कोमला वृत्ति का मोह देखिए—

"ख्याल ही की खोल मे अखिल ख्याल खेल खेल
गाफिल है भूल्यो दुख दोष की खुसाली तै।
लाख लाख भाँति अवलाखि लखे लाख
अरु अलख लख्यो न लखी लालन की लाली तै।

---

* माधुर्य व्यंजक वर्णो से ग्रथित रचना को वैदर्भी रीति या उपनागरिका वृत्ति, ओज व्यजक वर्णो से सगठित रचना को गौडी रीति या परुषा वृत्ति तथा पंचम वर्णो की प्रधानता रखने वाली (ओज तथा माधुर्य व्यजक वर्णो से निरपेक्ष) रचना को पाचाली रीति या कोमला वृत्ति कहते हैं।

प्रभु प्रभु 'देव' प्रभु सों न पल पाली प्रीति
दै दै करताली ना रिझायीं बनमाली तैं।
झूठी झिलमिल की झलक ही मे झूल्यो जल
मल की पखाल खल खाली लाल पाली तैं।"

'परुषा वृत्ति' में तो भाषा के अंग-भंग की और भी परवा नहीं की जाती थी। सूदन के ओज में शब्दो की तड़तड़ाहट सुनिए—

"दब्बत लुत्थिनु अब्बत इक्क सुखब्बत से।
पब्बत लोह, अचब्बत सोनित गब्बत से
चुट्टित सुट्टित केस सुलुट्टित इक्क मही
जुट्टित फुट्टित सीस, सुखुट्टित तेग गही
कुट्टित घुट्टित काय बिछुट्टित प्रान सही
छुट्टित आयुध, हुट्टित गुट्टित देह दही"

रीति-विधान का यह आग्रह सूदन, भूषण, देव ऐसे रीतिकालीन कवियों तथा चारण-भाटों में ही नहीं, प्रसाद और माधुर्य के लिए प्रसिद्ध महाकवि तुलसी तक में दिखलाई पड़ता है। प्राचीनता से घोर घृणा रखनेवाले प्रायः यह कहते सुने जाते हैं कि रीति, अलंकार इत्यादि का समय लद चुका है। किंतु इससे यह न समझना चाहिए कि आधुनिक काल की कविता में रीति की उपेक्षा की गई। यदि ऐसा होता तो पंत जी को शब्दों के स्वरूपों के लिए अपने पल्लव की भूमिका के अनेक पृष्ठ न रँगने पड़ते और न यही कहने की आवश्यकता पड़ती कि "जहाँ भाव

और भाषा मे मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरो के पावस में केवल शब्दो के 'बटु समुदाय' ही दादुरो की तरह इधर-उधर कूदते-फुदकते तथा साम-ध्वनि करते सुनाई देते हैं।"* उनकी एक ही रचना के दो उदाहरण लीजिए और रीति का निर्वाह देखिए—

"आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात!
चार दिन सुखद चाँदनी रात
और फिर अंधकार अज्ञात"—परिवर्तन

× × × ×

"बजा लोहे के दंत कठोर
नचाती हिंसा जिह्वा लोल
भृकुटि के कुंडल वक्र मरोर
फुँहुकता अंध शेष फन खोल!
बहा नर शोणित मूसलधार···
रुण्ड मुण्डों का कर बौछार।
प्रलयघन सा घिर भीमाकार
गरजता है दिगंत-संहार"

—परिवर्तन

इससे स्पष्ट है कि पुरानी कविता की भाँति छायावादी कविता में भी शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए रीति का विधान

* देखिए 'पल्लव' की भूमिका पृष्ठ २१

बराबर पाया जाता है। थोड़ा-सा जो अंतर आया है वह यह है कि छायावादी कविता मे कठोर भावो की व्यंजना के लिए न तो भाषा भ्रष्ट की गई है और न शब्द तोड़े-मरोड़े गए हैं। पहले के कवि शब्दो को तोड़ते-मरोड़ते अवश्य थे किंतु अनुरणन के साथ-साथ अर्थ पर भी ध्यान रखते थे। आधुनिक कविता में कही कही अनुरणन के लिए निरर्थक शब्दों का प्रयोग भी देखा जाता है। इसे संवेदना-वाद का प्रभाव समझना चाहिए जिसके अनुसार शब्दों के प्रयोग मे उनके अर्थों पर ध्यान देना उतना आवश्यक नही जितना उनकी नाद शक्ति पर।* इसके लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

"सखि, निरख नदी की धारा
ढलमल ढलमल चंचल अंचल,
झलमल झलमल तारा।

निर्मल जल अन्तस्तल भरके
उछल उछलकर, छलछल करके
थल थल करके, कल कल करके
बिखराती है पारा
सखि, निरख नदी की धारा।"†

—साकेत

---

* देखिए 'चिंतामणि' पृष्ठ २३०

† मिलान कीजिए—"ककन, किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
—रामचरितमानस

इस विधान से छायावादी युग की कविता संगीत के और भी निकट पहुँचाई गई। जैसा कि आगे कहा जा चुका है प्रगतिवादी कवियों के भाव (?) नाद-सौन्दर्य के आधिक्य से दब जाते है। फिर वे नाद की परवा क्यो करने लगे। अतः वे नई रीति चला रहे हैं—कान का काम ऑख से लेना चाहते हैं। वे अपनी सवेदना को पाठक तक पहुँचाने के लिए 'विराम संकेतो से, अंकों और सीधी तिरछी लकीरो से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उलटे अक्षरो से, लोगो या स्थानो के नामो से, अधूरे वाक्यों से, इसी प्रकार के और अन्य साधनो से काम लेते हैं*। मानो कविता केवल देखने की वस्तु है पढ़ने या सुनने की नहीं। इस अनरीति का दोष वे वेचारी भाषा पर मढ़ते है और वे अपनी 'उलझी हुई संवेदना' के लिए भाषा को अपर्याप्त बतलाकर पाठकों की आँखो में धूल झोंकते हैं। वस्तुतः यह है उनकी वह वैचित्र्य-प्रियता या नवीनता की रुचि जो अपनी परम्परा की ओर ताकने ही नहीं देती और 'कहीं की ईट कहीं का रोड़ा' लेकर 'नव-संस्कृति' के निर्माण के लिए अनेक अनर्गल मार्ग दिखलाती है। कौन नहीं जानता कि प्रगतिवादियो की उक्त 'रीति' या अनरीति अमरीकी कवि कमिग्ज सा० की चलाई हुई है† जो निरा विदेशी सौदर्योपचार है। उसे ग्रहण करना संस्कार-शिथिलता है, साहित्यिक

* देखिए 'तार-सप्तक' की भूमिका।

† देखिए आचार्य रामचन्द्रशुक्ल कृत काव्य मे अभिव्यजनावाद (चितामणि मे पृष्ठ २२८-२३३)

प्रतिभा के साथ अनाचार है और काव्य के प्रकृत क्षेत्र में कूड़ा-करकट इकट्ठा करना है—सारांश मे घोर असाहित्यिकता है। उसे भी ठीक ढग से ग्रहण करते तब भी एक बात थी। उसमें अनर्गलता चाहे जो हो पर उसके मूल मे संवेदना और मूर्त-विधान का प्रयास तो है। किन्तु प्रगतिवादियो में यह भी नहीं है। वे तो अपनी 'उलझी हुई संवेदना' को पाठक तक पहुँचाने के लिए ऐसा करते हैं। भला यह कवि-कर्म है? जटिल जगत् को अपनी कल्पना की विधायक शक्ति से सुलझाने के लिए ही तो कवि कर्म में रत होता है और काव्य की भाव-भूमि मे पहुँचता है। यदि उसकी मानसिक स्थिति ही सुलझी हुई न हुई तब वह विधान ही क्या करेगा और जो करेगा वह दूसरा समझेगा ही क्या? पर प्रगतिवादी इसे ही कविता कहता है—

> "इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि !
> इतना ज्ञान, संस्कृति और अन्त.शुद्धि !
> इतना दिव्य, इतना भव्य, इतनी शक्ति
> यह सौंदर्य, वह वैचित्र्य, ईश्वर भक्ति।
> इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छंद
> जितना ढोंग, जितना भोग है निर्बंध।
> इतना गूढ, इतना गाढ, इतना जाल
> केवल एक जलता सत्य देते टाल"
>
> —तारसप्तक

जिसके हृदय में समाज, साहित्य, संस्कृति सबके प्रति भर्त्सना

भरी है वह 'इतना गूढ़', 'इतना गाढ़', 'इतना जाल' के अतिरिक्त और देगा ही क्या ? और 'जनाह्वान' भी इसके अतिरिक्त और क्या करेगा—

"कौन हूँ मैं ?
तेरा दीन दु:खी पददलित पराजित
आज जो क्रुद्ध सर्प से अतीत को जगा
'मै' से 'हम' हो गया।"

—तारसप्तक

अब जिसे अवकाश हो वह 'जलता सत्य' और काव्य का कला-पक्ष—अलंकार, छंद तथा रीति तलाशे अन्यथा अनरीति से आँखें बन्द कर ले और उसे इन्हीं के लिए छोड़कर अपनी काव्य-भूमि का रास्ता पकड़े।

यदि भाव कविता-कामिनी के प्राण हैं और अलंकार आभूषण तो भाषा शरीर है जिसके बिना दोनो व्यर्थ हैं। भाव भाषा द्वारा ही सम्यक् प्रकार से व्यक्त हो सकते हैं।

भाषा

यदि भाषा भाव को व्यक्त करने में सशक्त न हुई तो कवि के भाव चाहे जितने भी ऊँचे, पूर्ण और सुन्दर हो, पाठक अथवा श्रोता के समक्ष वे उस रूप में कदापि नही आ सकते। अस्तु, अपने कथन को प्रकट करने के लिए कवि को ऐसी भाषा बनानी पड़ती है जो उसे प्रकट करने में सशक्त हो, साथ ही भाषा-भाषी के लिए बोधगम्य भी हो। इसके लिए उसे अपनी भाषा को काट छाँट कर,

उपयुक्त शब्द चुन कर, उन्हें नाप-तौल कर, अपने रंग में रँग कर रसात्मक, मधुर, सुन्दर, उपयुक्त और रमणीय बनाना पड़ता है। इसीलिए वह भाषा का कर्ता कहलाता है। यदि कवि अपनी भाषा को लचीली न बना सका, लचीली बनाकर भी यदि वह उसमें प्रवाह न ला सका, उसमें अलंकार-प्रस्फुटन की योग्यता न आई अथवा शब्दरंकता दिखाई पड़ी तो उसे कवि के पवित्र और ऊँचे आसन पर बैठने का अधिकार नहीं क्योंकि वह अपने भावों को सम्यक् प्रकार से प्रकट करने मे समर्थ ही नहीं हो सकता। कविता की भाषा मे हृदय को द्रवीभूत करने की क्षमता होनी चाहिए और यह तभी संभव हो सकता है जब भाषा आवश्यकतानुसार प्रसाद, ओज और माधुर्य से पूर्ण हो। संस्कृत और अँगरेजी के आचार्यों द्वारा दिए गए काव्य-लक्षण * से भी यही ध्वनि निकलती है कि भाषा कविता का बहुत बड़ा अंग है।

---

* रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

—पंडितराज जगन्नाथ तैलंग

वाक्य रसात्मक काव्यम्। —विश्वनाथ महापात्र

"Poetry is the embodiment in appropriate language of beautiful or high thoughts,

"Poetry is the art of expressing in melodious words the thoughts which are the creations of feeling & imagination."

—Webester

अस्तु, कविता पर विचार करते समय भाषा पर विचार करना आवश्यक है।

हिन्दी अपने आदि काल में अपनी पूर्ववर्ती काव्य भाषा प्राकृत के बंधनो से बहुत बँधी हुई थी। उस समय के कवि प्राकृत के पुराने शब्द ही नहीं विभक्तियाँ, कारक-चिह्न, क्रियाओ के रूप आदि भी लेते थे। उस समय की हिंदी के दो रूप मिलते हैं— (१) वह रूप जिसका ढाँचा तो राजस्थानी या गुजराती का था पर उसमे प्राकृत शब्दो का बाहुल्य होता था और (२) वह रूप था जिसका ढाँचा पुरानी ब्रजभाषा का था, पर थोड़ा बहुत पंजाबी और खड़ी बोली के शब्दो का भी मेल हो जाता था। पहली को 'डिंगल' और दूसरी को 'पिंगल' कहते थे। हमारा सम्बन्ध पिंगल से है। रासो साहित्य इसी सामान्य साहित्यिक भाषा मे लिखा है। डिंगल के कवियो में प्राचीनता की झलक पिंगल के कवियो की अपेक्षा कम है। इन्होने जान-बूझकर प्राकृत अपभ्रंशो को ठूसा है। वे भाषा के उस रूप को अधिक ग्रहण करते थे जो सैकड़ो वर्ष पहले से कवि परम्परा लेती चली आ रही थी। वि० सम्वत् १३७५ तक तो यह प्रवृत्ति बहुत ही अधिक थी। इसके उपरान्त जैसे-जैसे ब्रज, खड़ी बोली और अवधी इत्यादि विकसित होती गईं वैसे ही उक्त प्रवृत्ति भी बदलती चली गई*।

महात्मा सूरदास के समय तक में ब्रजभाषा ने काव्य-भाषा

* दे० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ४-५।

का पूरा रूप पकड़ लिया था। फिर भी सूर की रचना प्राकृत अपभ्रंश और अपभ्रश की क्रिया और सर्वनाम के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं है। कुछ भी हो पर सूर की रचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके समय तक मे व्रजभाषा ने व्यापक काव्य-भाषा का रूप धारण कर लिया था।

इधर अवधी भी साहित्य के क्षेत्र मे स्थान पाने लगी थी और अवध के मुसलमानो के हाथ मे पड़कर वह मजने लगी थी। छोटे-मोटे कवियो के अतिरिक्त कुतवन ने अवधी मे 'मृगावती' और मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' लिखी। इन प्रेमाख्यानक मुसलमान कवियो की भाषा प्रायः बोलचाल की सशक्त चलती भाषा है जिसे आगे चलकर महात्मा तुलसीदास ने संस्कृत के योग से परिमार्जित और प्रांजल बनाकर साहित्यिक भाषा का गौरव दिया। उन्होने उसमे 'रामचरित मानस' लिख कर उसे अमर कर दिया। वह 'रामचरित मानस' के कारण पूर्व से पश्चिम तक व्यापक हो गई। इसका एक बहुत बड़ा दुष्परिणाम भी हुआ। व्रजभाषा की विशुद्धता मे बहुत बड़ा व्याघात पहुँचने लगा। उसमें अवधी के शब्द ही नहीं वरन् रूप भी व्यवहार मे लाए जाने लगे। फिर क्या था, भाषा मे प्राकृत के शब्दों के प्रयोगों के साथ-साथ 'कीना', 'कियो', 'कीन', 'किय', 'करो', 'कर', 'मेरो', 'मोर', 'थोर' सबका प्रयोग होने लगा। अवधी और व्रज में स्वरूप-भेद होने के कारण दोनों का सौंदर्य भिन्न-भिन्न है। अतः दोनों भाषाओं के मेल से दोनों के सौंदर्य मे

व्याघात पड़ा। इसका यह अर्थ नहीं कि शुद्ध अवधी और व्रज लिखनेवाले कवि हुए ही नहीं। रघुनाथदास का 'विश्राम-सागर' शुद्ध अवधी का अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार घनानन्द और रसखान ने शुद्ध व्रजभाषा में कविता की है। पर ये कवि अपवाद-स्वरूप हैं। वस्तुतः महात्मा तुलसीदासजी के अनन्तर अवधी का प्रचार बन्द-सा हो गया, पर व्रजभाषा भारतेंदु-काल के कुछ पीछे तक ज्यों-त्यों चलती रही। किन्तु व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था नही हुई। शब्दालंकार के फेर मे पड़कर च्युत-संस्कृति और ग्राम्यत्व दोषो की अधिकता होने लगी और कुछ नहीं तो भरती का 'सु' तो प्रायः सभी कवियो मे आने लगा। फल यह हुआ कि कवियो में भाषा की सफाई न आई, उसकी वाक्य-रचना सुव्यवस्थित न हो पाई। भाषा का सौष्ठव नष्ट हो गया। जैसा कि ऊपर कहा गया है व्रज और अवधी का संमिश्रण अच्छे-अच्छे कवि तक करने लगे। उदाहरण के लिए बिहारी लिए जा सकते हैं। बिहारी की भाषा बहुत सुन्दर है। भाषा की सफाई की ओर उनका ध्यान स्पष्ट है, पर उनकी कविता में भी अवधी के प्रयोग देखिए—

"जगत जनायो जिहि सकलु सो हरि जान्यो नाहिं
ज्यौं आँखिन सबु देखियै आँखि न देखी जाहि"

"पिय तिय सौं हँसि कै कह्यो लखैं डिठौना दीन
चन्दमुखी मुखचन्द तैं भलौ चन्द सम कीन"

उपर्युक्त कथन का समर्थन 'दास' जी के दोहे से भी हो जाता है जो उन्होने भाषा के सम्बन्ध में कहा है—

"तुलसी गंग दुवौ भए, सुकबिन के सरदार
इनके काव्यन में मिली, भाषा विविध प्रकार"

भाषा की इसी अवस्था की ओर आधुनिक काल के कवियों में राजा लक्ष्मणसिह् की दृष्टि गई और उन्होने उसे संस्कृत किया। एक उदाहरण लीजिए—

"थकि जायगी दामिनि तेरी तिया
बहु बेर लों हास-बिलास करे
टिकि रात मे लीजियो काहू अटा
जहँ सोवत होंई परेवा परे।
दिन ऊगत फेर उतै चलियो
जित में चलिबे की रहे दग रे।
सहतात कहाँ नर वे जग में
जिन मीत के कारज सीस धरे॥"

लक्ष्मणसिह् के अनन्तर श्रीधर पाठक और रत्नाकरजी ने भी बहुत प्रौढ़ तथा परिष्कृत ब्रजभाषा लिखी है। भाषा की इस प्रगति के प्रमुख प्रतिनिधि घनानन्द हैं।

उधर भारतेन्दु-काल के कुछ पीछे खड़ीबोली काव्य-क्षेत्र में आई। उसे हिन्दी या संस्कृत के वृत्तो में ढालना कवियो को कुछ कठिन प्रतीत होने लगा। अतः पहले उर्दू-बहरों मे ढाली गई। उर्दू-बहरों में ढालने के कारण अथवा उसमें काव्योचित

माधुर्य का अभाव देखने के कारण उस समय की कविता उर्दू-फारसी शब्दो से लद ही नही गई वरन् पूर्ण उर्दू हो गई—

"दिल मेरा ले गया दगा करके
बेवफा हो गया वफा करके
हिज्र की शब घटा ही दी हमने
दास्ताँ जुल्फ की बढा करके"

—भारतेंदु

द्विवेदी-काल मे यह प्रवृत्ति बदली और संस्कृत-वृत्त अपनाए जाने लगे। जिस प्रकार उर्दू-बहरो के लिए अरबी-फारसी के शब्दो का ग्रहण अनिवार्य सा था उसी प्रकार सस्कृत-वृत्तो के लिए संस्कृत-पदावली ही उपयुक्त हो सकती थी। अतः खड़ी बोली मे संस्कृत-पदविन्यास की भरमार होने लगी। उपाध्यायजी के प्रिय-प्रवास मे यह प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ी हुई दिखाई पड़ती है कि उसमे हिंदीत्व ढूँढ़ने से कहीं-कही मिलता है। अधिकांश प्रियप्रवास की भाषा संस्कृत सी ज्ञात होती है—

"रूपोद्यानप्रफुल्लप्रायकलिका राकेंदुबिंबानना
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ाकलापुत्तली
शोभावारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्यलीलामयी
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य-सन्मूर्ति थी"

द्विवेदी-मंडल के कवियो की भी यही दशा रही। उनकी भाषा संस्कृतगर्भित ही नहीं रही, कर्कश भी हो गई—

"कवि के कठिनतर कर्म की करते नही हम धृष्टता,
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता ?"

—मैथिलीशरण गुप्त

इतना ही नहीं, उसमे साधुता का भी अत्यन्त अभाव था—

"भृकुटी कुटिल कटाक्ष-पात से उसे सुन्दरी सुरबाला
बाँध डाल रक्खे वैसे ही पड़ा रहे वह चिरकाला"

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रसाद-काल में प्रत्यावर्तन हुआ। मधुर पदावली का माधुर्य तो उपाध्यायजी की ही रचना मे आ गया था, पर अभिव्यंजना के वैचित्र्य का अभाव था। प्रसाद-काल मे उसकी भी पूर्ति हो गई। इस काल में कर्कशता से बचने का प्रयत्न किया जा रहा है। दीर्घांतपदत्व और बड़ी बड़ी क्रियाएँ भाषा की मधुरता में बाधक हैं। इनके त्याग की ओर भी वर्तमान कवियो की दृष्टि है। व्याकरण की व्यवस्था होने के कारण नवीन कवियो की भाषा में वाक्य-रचना अव्यवस्थित नहीं होती। हाँ, व्यक्ति-वैचित्र्य, स्वच्छंद-प्रियता और नवीनता-प्रदर्शन के कारण कहीं कहीं दुष्ट प्रयोग और अन्य भाषाओ के प्रयोगों का अनुचित मिश्रण मिलता है। जैसे—

(क) "भौंरों के सुरभित अभिसार"

('अभिसार' का प्रयोग यहाँ 'संकेत-स्थल' के लिए हुआ है पर 'अभिसार' 'जाने को' कहते हैं।)

इसी प्रकार—

(ख) "ललित कंधरा कंठ कंबु सा
नयन पद्म से, ओज अंबु सा"

(यहाँ 'कंधरा' 'कंधे' के अर्थ में प्रयुक्त है पर 'कंधरा' का अर्थ 'गर्दन' होता है।)

(ग) "मधुर वेणु की सी झंकार"

('वेणु' 'वंशी' को कहते हैं। पर यहाँ कवि का आशय 'वीणा' से है। क्योंकि 'वेणु' में झंकार नहीं होती।)

(घ) "मिला लालिमा मे लज्जा की"

('लाल' अरबी का शब्द है। अतः इसमे हिंदी-प्रत्यय ही लग सकता है। पर यहाँ संस्कृत-प्रत्यय लगाया गया है।)

इसी प्रकार—

(ङ) "सखि न हटा मकड़ी को आई है यह सहानुभूतिवशा
जालगता मैं भी तो हम दोनो की यहाँ समान दशा"

(यहाँ 'सहानुभूतिवशा' और 'जालगता' हिंदी के प्रयोग नहीं हैं। यह संस्कृत की प्रवृत्ति है।)

(च) "मेरे क्रंदन में बजती
क्या वीणा ? जो सुनते हो"

('जो' बोलचाल का शब्द है। यहाँ 'जिससे' होना चाहिए।)

'पेट भर', 'जी भर' का भी दुष्ट प्रयोग देखिए—

"देवी उन कांता सती शांता को सुलक्ष कर
वक्षभर मैंने भी हँसी यों अकस्मात की"

भारत मे भौंरा काला होता है। पर 'गोल्डेन बी' (Golden bee) के प्रेमी उसे भी 'स्वर्णिम' बना डालते हैं।

हिंदी में लिंग-भेद का झमेला बहुत पुराना है। अतः 'पंत' के

"कहाँ नही है स्नेह ? स्वाँस सा सबके उर में"

आए 'स्वाँस' का समर्थन हो जाता है। पूर्व मे न सही दिल्ली में तो साँस पुलिंग ही बोला जाता है। पर—

"क्षुब्ध-जल-शिखरो को जब बात
सिंधु से मथकर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना बिथुरा देती अज्ञात,"

—'पल्लव' से

"क्यो व्यथित व्योम - गंगा सी
छिटका कर दोनो छोरे"

—'आँसू' से

में 'बात' और 'छोरें' के प्रयोग का कारण समझ में नहीं आता। 'बात' और 'छोर' ये दोनों तो पुलिंग में ही आते हैं। उनका स्त्री-लिंग मे प्रयोग करना तो स्वच्छंद-प्रियता ही कही जायगी। व्याकरण-दोष का यहीं अंत नही होता। एक और बेतुका पद्यांश देखिए—

"हमने उसको रोक न पाया
तो निज दर्शन-योग गमाया"

—'साकेत' से

ऐसे अनेक भाषा-दोष हिंदी-कविता में मिलते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों से भाषा तो बिगड़ी ही है साथ ही कहीं कहीं कविता में दुर्बोधता भी आती है। दुर्बोधता लाने वाले दोषों में से एक दोष और है, और वह है न्यूनपदत्व, जो आज-कल की कविता में बहुत अधिक मिलता है। कुछ उदाहरण लीजिए—

"प्रिय के गौरव ने
लघुता दी है मुझे रहें दिन भारी"

—मैथिलीशरण गुप्त

'मुझे' के अनंतर 'इसी से' और 'रहें' के स्थान मे 'रहते हैं' न जोड़िए तो अर्थ कुछ का कुछ हो जाय।

"त्रिविध पवन ही था आ रहा जो उन्ही सा
यह घनरव ही था आ रहा जो उन्हीं सा"

कवि का आशय है उन्ही के 'स्वर-सा' पर क्या 'उन्हींसा' से यह अर्थ निकलता है? देखिए नीचे का उदाहरण शब्दों की कमी के कारण कितना अस्पष्ट हो गया है—

"तिर रही अतृप्ति-जलधि मे
नीलम की नाव निराली
काला - पानी - बेला सी
है अंजन - रेखा काली"

—प्रसाद

इसका अर्थ तभी समझ में आएगा जब 'नीलम की नाव

निराली' के पूर्व 'प्रेमी की' और 'है अंजन-रेखा काली' के पूर्व 'प्रिय की' जोड़िए।

हमारे साहित्य-शास्त्र में भाषा के सम्बन्ध में अलग विचार नही हुआ। कविवर भिखारीदास संभवतः पहले आचार्य है जिनका ध्यान कविता की भाषा के सम्बन्ध मे गया है। पर वह भी विवेचन के रूप में नही हुआ। हिन्दी-कविता के प्राचीन कवि अलंकारों—विशेषतः शब्दालंकारो द्वारा अपनी भाषा सजाते थे। सानुप्रास भाषा का सौंदर्य यदि किसी को देखना हो तो 'रामचरित-मानस' को उठाकर देख ले। कहीं-कहीं तो अनुप्रासों की योजना ऐसी सुन्दर हुई है कि उससे प्रस्तुत प्रसंग की ध्वनि सी सुनाई पड़ने लगती है—

"कंकन किंकिनि नूपुर-धुनि सुनि
कहत लखन सन राम हृदय गुनि"

—तुलसीदास

"रनित-भृंग-घंटावली, झरित-दान-मद-नीरु
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज-समीरु"

—'बिहारी सतसई' से

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पिछले खेवे के कवियों ने अनुप्रास का दुरुपयोग किया। उसके लोभ में पड़कर कवियो ने शब्दों का ऐसा अंग-भंग किया कि उनके प्रकृत रूप का पता लगाना बड़ा कठिन है—

"कोकनद पाली घाली खंजन खुशाली चाली
मीन, पीनवाली हाली सब छिति छ्वै गई।

माली मृगडाली में लुकात जान जाली हो,

बिहाली ख्याल खाली लै अलाली बान वै गई।

'कवि सरदार' याली कौन की उलाली बानि,

हान मान भाली जो सुजान मान भ्वै गई।

आली आजु काहे तें बिशाली बनवाली आए,

नैनन मे लाली जो गुलाली रंग ह्वै गई।"

इस प्रवृत्ति के प्रतिकूल प्रतिवर्तन होना बिलकुल स्वाभाविक था। किसी सीमा तक यह प्रतिवर्तन बहुत ठीक है। पर कविता की भाषा को अनुप्रासविहीन करके छोड़ने की प्रतिज्ञा करना कवि-कर्म को न समझने का प्रमाण देना है। अलंकार-प्रकरण में यह दिखलाया जा चुका है कि अलंकारो का त्याग बात ही-बात है। जो कवि-कर्म को समझते है वे आज भी—

"सखि, निरख नदी की धारा

ढलमल ढलमल चंचल अंचल,

झलमल झलमल तारा।

निर्मल जल अन्तस्तल भरके

उछल-उछल कर, छल छल करके

थल थल करके, कल कल करके

बिखराती है पारा

सखि निरख नदी की धारा।"

लिख कर अनुरणन पैदा करते हैं। नवीनता से चौंधिआई हुई अंतःदृष्टि इसमें भी नवीनता ही देखेगी और इसे संवेदनावाद

(इम्प्रेशनिज्म) का प्रसाद समझेगी। ऐसी दृष्टि वालों से इससे अधिक और क्या निवेदन किया जा सकता है कि वे कृपा करके यदि अंतःदृष्टि न खुले तो चर्मचक्षुओं को ही कष्ट देकर किसी साहित्य-शास्त्र में 'रीति' का प्रकरण पढ़ लें। कहने की आवश्यकता नहीं कि गुण, वृत्ति, रीति आदि का विचार भाषा को ही लेकर किया जाता है।

छायावाद की भाषा में सबसे बड़ा अभाव मुहावरों के प्रयोग का है। मुहावरे कविता के लिए बहुत आवश्यक हैं। स्मिथ साहब का यह कथन बहुत सत्य है कि "मुहावरे भाषा के जीवन की स्फूर्ति हैं। ये उसे जीवन ही भर नहीं देते वरन् सुन्दर भी बनाते हैं। मुहावरे के अभाव से वह अरुचिकर, भद्दी और अशक्त हो जाती है। इसे कविता की बहन समझना चाहिए, क्योंकि कविता की भाँति ये भी हमारे विचारों को जीवित संवेदना का रूप देते हैं।"* यही कारण है कि रचना-सौष्ठव पर ध्यान देनेवाले पुराने कवि काव्य-परम्परा से मुहावरों का प्रयोग अपनी भाषा में करते थे। किन्तु छायावाद में कवि अपने वाक्य-विन्यास पर भरोसा रखकर चले हैं और मुहावरों के

* Idioms are little sparks of life and energy in our speech,..... diction deprived of idiom soon becomes tasteless, dull, insipid..... it is, in truth, "the life and spirit of language" It may be regarded as the sister of poetry, for like poetry it retranslate our concepts into living experiences.

अभाव की पूर्ति लक्षणा से की गई है। लक्षणा के प्रयोग से अभिव्यंजना का वैचित्र्य (जो कविता के लिए बहुत आवश्यक है) अवश्य आया पर साथ ही वह क्लिष्ट भी हो गई और सर्वसाधारण के लिए वह बोधगम्य नहीं रह गई। मुहावरो का प्रयोग किया भी गया है तो अँगरेजी मुहावरो का*। इसके कारण भी वह सर्वसाधारण से दूर हो गई है।

इस प्रकरण को समाप्त करने के पूर्व थोड़ा-सा विचार शब्द-शक्ति पर हो जाना चाहिए क्योंकि इसके बिना आधुनिक कविता की एक बहुत महत्वपूर्ण विशेषता की चर्चा बच रहेगी। प्रस्तुत पुस्तक मे शब्द-शक्ति का शास्त्रीय विवेचन सम्भव नही। इस सम्बन्ध में यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि काव्य मे जो शब्द प्रयुक्त होते हैं वे तीन प्रकार के माने गए हैं—(१) वाचक, (२) लाक्षणिक और (३) व्यंजक। इनसे तीन प्रकार के अर्थ निकलते हैं जिन्हे क्रमशः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ कहते हैं। इन अर्थों का ज्ञान करानेवाली तीन शक्तियाँ होती हैं जिनका नाम क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना है।†

---

* "चूम मौन कलियो का मान" का अर्थ तभी समझ मे आएगा जब 'किस्ड अवे' का अर्थ ज्ञात हो।

† शब्द के सुनते ही जिस अर्थ का बोध होता है उसे वाच्यार्थ, जिस शक्ति के द्वारा यह प्रथम अर्थ (प्राइमरी मीनिग) ज्ञात होता है उसे अभिधा शक्ति कहते है। सब वस्तुओ का ग्रहण इसी शक्ति द्वारा होता है। वाच्यार्थ का बाध होने पर उससे (मुख्यार्थ से) सबद्ध

भाव व्यंजना के लिए जब अभिधा से काम चलता दिखाई नहीं देता या जब कोई चमत्कार दिखाना कवि को अभीष्ट होता है तब वह लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग करता है। इस प्रयोग से वस्तुओं के मूर्त प्रत्यक्षीकरण में सहायता तो मिलती ही है साथ ही भाषा में भी व्यंजकता आ जाती है और एक प्रकार का आनन्द भी मिल जाता है। यही लाक्षणिकता छायावादी कविता की सबसे बड़ी विशेषता रही है। इसका यह अर्थ नही कि पुराने समय में इसका प्रयोग होता ही नही था। 'अरसानि गही उहि बान कछू सरसानि सो आनि निहोरत हे', 'कूकभरी मूकता', 'उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखौ' इत्यादि प्रयोग प्राचीन कविता में भी मिलते हैं, पर इस प्रकार के प्रयोगो की प्रचुरता जितनी नवीन कविता मे है, पुरानी में न थी। छायावादी कविता मे पागल के से मनोभाव रखने वाले के लिए 'सिड़ी के गूढ़ हुलास', पूर्ण विकसित वेदना के लिए 'सुप्त व्यथा का जगना'

जिस दूसरे अर्थ का ज्ञान होता है उसे लक्ष्यार्थ और जिस शक्ति के द्वारा इसका बोध होता है उसे लक्षणा शक्ति कहते है। अभिधा वृत्ति के विरत हो जाने पर (जो कुछ अर्थ निकलता हो, निकल जाने पर) यदि लक्षणावृत्ति से भी कोई अर्थ न निकले तो तीसरी शक्ति व्यजना का सहारा लिया जाता है और जिस अर्थ का बोध होता है उसे व्यग्यार्थ कहते है। यह शक्ति शब्द मे, अर्थ मे यहॉ तक कि प्रत्यय और उपसर्ग तक मे होती है।

इत्यादि प्रयोग भरे पड़े हैं। कहना चाहे तो यहाँ तक कह सकते हैं कि उसमें इन्हीं का प्राबल्य है। जहाँ तक लक्षणा अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार चलती है वहाँ तक तो यह बहुत ही सुन्दर बन पड़ती है। पर जहाँ ऐसा नहीं होता, ये लाक्षणिक प्रयोग अजायबघर की वस्तु बन जाते है। जिस प्रकार सब बातों में ऍंगरेजी की नकल की जाती रही है उसी प्रकार भाषा में भी। छायावादी कविता में बहुत से ऐसे प्रयोग मिलेगे जो हिंदी की अभिव्यंजना से मेल नही खाते। उदाहरण के लिए पंत जी का निम्नलिखित पद ले लीजिए—

"गरज गगन के गान गरज गंभीर स्वरों में
भर अपना सन्देश उरों में औ अधरों में।"

उत्तरार्ध से कवि का अभिप्राय है कि हृदय में करुणा के दिव्य संगीत भर जाएँ और मुँह से वे व्यक्त भी हो। अब यह 'अधरों में' का प्रयोग 'ओठ खोलने' (टु ओपेन लिप्स) से मेल खाता है, हिन्दी प्रयोग 'कंठ फूटने' या 'मुँह खोलने' से नहीं। किन्तु यहाँ तक गनीमत है। 'विचारो में बच्चों की साँस' और 'मेरे जीवन के अन्तिम पाहन', 'जीवन का पहला पृष्ठ' इत्यादि केवल हिन्दी के भरोसे रहने वालो के लिए तो कृत्रिम रहस्यवादी कविता ही हैं। 'चूम मौन कलियों का मान' वही समझेगा जो 'किस्ड अवे' का अर्थ जानता होगा। इतना ही नहीं बहुत तो ऐसे प्रयोग हैं जिन्हें हिन्दी और अँगरेजी दोनों पर पूरा दावा रखने वाले भी कठिनाई से समझ पाते हैं। 'विटप बालिका'

(पक्षी) और 'सलिल-बालिका' (लहर) इसी प्रकार के प्रयोग हैं। कुछ भी हो इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि व्यञ्ज-कता की वृद्धि मे छायावादी कवियों का बहुत बड़ा हाथ है। प्रगतिवाद की दृष्टि भाषा की सिधाई और सरलता पर है, व्यंजकता पर नही। इसलिए लक्षणा के नाते कहीं-कहीं रूढ़ा-लक्षणा (मुहावरों) का प्रयोग मिल भी जाता है, पर अन्य प्रकार की लक्षणा का प्रयोग बचाया जाता है। भाषा की सरलता पर अत्यंत अधिक ध्यान देने के कारण उसमे ग्रामीण तथा बजारू शब्दों का प्रयोग कुछ अधिक होता है। सिधाई पर अधिक ध्यान होने के कारण भाषा की व्यंजकता तो नष्ट ही हो रही है साथ ही वह विकृत भी होती जा रही है।

———

उपसंहार

नवीन कविता की कतिपय विशेषताएँ

प्रथम विश्वव्यापी महायुद्ध के पश्चात् भारत में प्रबल अशान्ति की आँधी उठी। चारो ओर से असंतोष के बादल उमड़ आए। सारा वातावरण क्षुब्ध हो उठा। क्रान्ति फूट पड़ी। उससे भाव-जगत् ओतप्रोत हो उठा। चेतना-स्रोतस्विनी अनेक धाराओ मे बह निकली।* उन धाराओं में सबसे तीव्र गति थी उस धारा की जो अतीन्द्रिय जगत की ओर चली—जगत और जीवन के कोमल और मधुर पक्ष को समेटती हुई, स्थूल जगत को यथासम्भव बचाती हुई, स्वच्छन्दतापूर्वक प्राचीनता को धक्का देती हुई, सौंदर्य का मार्ग पकड़े हुए आनंद-लोक को स्निग्ध करती हुई। इसी का नाम हिन्दी-साहित्य-संसार मे छायावाद पड़ा। इसमे नवीनता प्रेमी नवयुवको का मन रमा। पर जिन्हे

छायावाद और प्रगतिवाद

---

* नयी कविता मे काव्य परम्परा के अवरोध के लिए प्रतिक्रिया जो हुई, रहस्यवाद, प्रतीकवाद, छायावाद स्वाभाविक स्वछंदता की ओर कवियो की प्रवृत्ति जो हुई, बुद्धिवाद, स्वतन्त्रवाद, व्यक्तिवाद, जनवाद, राष्ट्रवाद आदि का जन्म और विकास जो हुआ; नूतन परम्परा का प्रवर्तन जो हुआ; वह सब इसी चेतना का फल है।

वसन्त के साथ पतझड़ देखने का भी अवसर मिल चुका था, जो वसन्त के साथ पतझड़ को भी श्लाघ्य समझते थे, जो पतझड़ के ध्वंस मे भी विश्वकवि का मगलमय हाथ देखते थे, जो कोमल-कठोर, मधुर-कटु और सुन्दर-असुन्दर सबको अव्यक्त ब्रह्म का व्यक्त रूप स्वीकार करते थे, जो मंगल और सौन्दर्य को स्थिर न मानकर उसे गत्यात्मक मानते थे उन्हे वह वैसी न रुची। उन्होने उसमें एकांगिता देखी, सामंजस्य बुद्धि का अभाव पाया। व्यक्तिवाद की अतिशयता मे समाज निष्ठा की सर्वथा उपेक्षा देखी।

यह धारा जीवन के उस पार जा रही थी। इस पार से पलायन कर रही थी। एक धारा उसके विरुद्ध जीवन के इस पार भी आई और प्रगतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। काव्य की यह धारा पहली धारा से सर्वथा भिन्न दिखलाई पड़ती है—रूप-रंग, गुण-क्रिया सबमे। पहली धारा ने स्थूलता का जितना त्याग किया था इसने उसे उतना ही जकड़ कर पकड़ लिया है। वह भौतिक जीवन से जितना ही दूर रहती थी यह उतना ही उसे साहित्य के सिर पर चढ़ा रही है। छाया से प्रेम रखनेवाला कवि जो कभी यह कहता था—

"हाँ सखि आओ बाँह खोल हम
लग कर गले जुड़ा लें प्राण।
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अन्तर्धान।"—पन्त

वही प्रगतिवाद में यह ढिंढोरा पीटता है—

"आत्मा ही बन जाय देह नव
ज्ञान ज्योति ही विश्वस्नेह नव
हास अश्रु आशा आकांक्षा
बन जाय खाद्य मधु पानी
युग की वाणी।" —पन्त

इस प्रकार ये दोनो धाराएँ परस्पर विरोधिनी हैं—ठीक उसी भाँति जिस भाँति छायावाद कही जानेवाली काव्यधारा द्विवेदीकालीन काव्यधारा की विरोधिनी थी। किन्तु इन धाराओं मे परस्पर चाहे जितना विरोध हो, भले ही ये एक दूसरे की प्रतिक्रिया के रूप मे चली हो पर ये सब हैं हिन्दी कविता के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ ही। द्विवेदीकाल मे काव्य-भूमि का विस्तार हुआ जो भारतेन्दु-काल में प्रारम्भ हो गया था। प्रसादकाल में शैली मे प्रगल्भता और विचित्रता, भाषा मे चित्रमयता, सजीवता और मार्मिकता, प्रकृति के सुन्दर और कोमल रूप में रहस्यात्मक संकेत इत्यादि अपने चरम रूप मे दिखलाई पड़े जिनका श्रीगणेश द्विवेदीकाल के कतिपय कवियो* द्वारा हो चुका था। आज प्रगतिवाद अर्थ-

छायावाद और प्रगतिवाद का समन्वय

* द्विवेदीकाल मे छायावादी ढंग की कविता करनेवालो मे से सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय और बदरीनारायण भट्ट के नाम उल्लेखनीय है। द्र० दे० आचार्य शुक्ल जी का हिन्दी साहित्य का इतिहास।

भूमि में जिस जन-जीवन और परिवर्तन को लेकर चल रहा है वह वही तो है जो छायावाद युग में ही निराला जी की 'जागरण वीणा' मे सुनाई पड़ी थी और 'इलाहाबाद के पथ पर' दिखलाई पड़ी थी। पन्त जी के छायावादी 'पल्लव' में ही परिवर्तन था जिसका उग्रतर स्वर 'युगवाणी' मे सुनाई पड़ता है। नवीन जी की सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन की वही लालसा तो है जो प्रगतिवाद में बड़े वेग से व्यक्त हो रही है। अस्तु, ये विभिन्न धाराएँ परस्पर चाहे जितनी विरोधिनी हों किन्तु हिन्दी कविता की दृष्टि से ये परस्पर कार्य-कारण की भाँति सम्बद्ध हैं।

इस दृष्टि से हिन्दी कविता मे समष्टिरूप में निराशा और अध्यात्म है तो क्रान्ति की अभिलाषा और मौलिकता भी। देश-काल का व्यवधान पार करनेवाली शाश्वत तथा मौलिक वृत्तियाँ हैं तो वर्तमान की परिधि में बँधी हुई सामयिक समस्याएँ एवं अनिश्चित भविष्य में रमनेवाली मंगलाशा भी। उसमें आदर्श है, यथातथ्य है, यथार्थ है, नवीनता है, और विभिन्न काव्य प्रणालियों का समन्वय भी है। इस प्रकार सम्पन्न साहित्य के लिए जो कुछ चाहिए वह सब उसमें है। किन्तु इसके साथ यह न भूलना चाहिए कि उसमें समय-समय की अपनी दुर्बलताएँ भी हैं।

छायावाद कही जानेवाली काव्यधारा ने कविता को अनेक प्रकार से नवीनता दी। उसमें बाह्यार्थ के स्थान में अन्तर्वृत्तियों का निरूपण आया। वर्णन का स्थान व्यंजना ने लिया। परम्परा

से चले आते हुए उपमानों का स्थान नए नए प्रतीकों ने ग्रहण किया। प्राचीन छन्दों में तो उलटफेर हुआ ही, साथ ही प्रगीतत्व की प्रधानता भी आई। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और मधुर कल्पना की माधुरी से वह मधुमयी हो गई। इस प्रकार भाव, भाषा, शैली सभी अंगो में नवीनता आई। नवीनता और वादों का आग्रह इतना बढ़ा कि कविता में विलक्षणता और असामान्यता लाना कविकर्म माना जाने लगा। इसके साथ ही बाह्यार्थ को बहुत अधिक बचाकर चलने के फलस्वरूप उसमें सूक्ष्म ही सूक्ष्म रह गया। फलतः कविता दुर्बोध, अस्पष्ट तथा क्लिष्ट हो गयी और उसकी धारा नर-क्षेत्र के बाहर बहती हुई प्रतीत हुई। इन सब कारणों से उसका रूप कुछ ऐसा अद्भुत हुआ कि आज उसके अन्तर्गत आने वाली रचनाएँ न तो उसके प्रवर्तक प्रसाद जी की, न उसके उन्नायक कवियों—रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा इत्यादि की और न साहित्य की सच्ची परख रखने वाले आचार्य शुक्ल की दी गई परिभाषाओं के अन्तर्गत आ सकती हैं। इतना ही नही, इन सब की परिभाषाओ में परस्पर इतना विरोध है कि आजकल के कुछ समीक्षक यहाँ तक कह देने का दुस्साहस कर बैठते है कि इन लोगों ने छायावाद को समझा ही नहीं। मेरी समझ में ऐसा कहना प्रगल्भता तथा अहम्मन्यता है और दूसरे पर अपनी विद्वता की धाक जमाने का अशोभन प्रयत्न है। सच बात तो यह जान पड़ती है कि छाया-वाद की कोई बँधी हुई निश्चित प्रणाली न थी। पहले तो वह

स्वच्छंदतावाद को लेकर चली, पीछे उसे रहस्यात्मकता, दार्शनिकता, स्वातंत्र्य भावना, कलावाद और व्यक्तिगत विशेषताओं में से सब अथवा कुछ प्रवृत्तियों से रँग कर विलक्षण बनाया जाने लगा और इस प्रकार की रचना छायावाद अथवा रहस्यवाद की कही जाने लगी। उक्त कवियों और आचार्यों के मतैक्य न होने का संभवतः यही कारण है। कुछ भी हो, पर इसमें दो मत नहीं हो सकते कि छायावाद की इस धारा का अवगाहन कठिन हो गया और वह "उस पार" बहने लगी।

इस एकांगिता की ओर कुल सक्षम कवियों का ध्यान गया और उन्होंने कविता को जगत की विस्तृत अर्थभूमि पर भी लाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। सौंदर्य की खोज और कृत्रिमता में व्यस्त रहने वाले कवि अब व्यक्ति के घेरे से निकल कर लोक के बीच दिखलाई पड़ने लगे। इससे उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति को बहिर्मुखी होने का अवकाश मिला और वह कोमल कल्पना में रमना छोड़कर वस्तुस्थिति में भी विचरने लगी। अतः प्रेमी और प्रिय के साथ शोषक-शोषित तथा निराश प्रेम से उत्पन्न करुणा के साथ समाज के दुख-दारिद्र्य से उद्भूत करुणा भी कविता में दिखलाई पड़ने लगी।

जबतक यह सब छायावाद की अतिशयता के निराकरण के रूप में होता रहा तब तक कविता की प्रगति स्वाभाविक रही। किन्तु जब वाद के चक्कर में पड़कर इस प्रगति ने छायावाद से एक दम नाता तोड़कर काव्य की विशिष्ट धारा (प्रगतिवाद) का

रूप धारण किया तब से कविता की स्थिति बिगड़ने लगी। आज वह निष्प्राण होने लगी है, वह विकृत हो गई है।

प्रगतिवाद का घपला

प्रगति का सीधे-सीधे अर्थ होता है आगे बढ़ना। अतः प्रगतिवादी कविता उसे कहना चाहिए जो काल विशेष की बँधी हुई प्रवृत्ति के आगे हो। इस अर्थ में इसके अन्तर्गत वे कविताएँ आती हैं जो रीतिकाल के शृंगार की तंग गलियों से निकल कर आगे बढ़ी। ऐसा मानने पर तो श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री सुभद्राकुमारी चौहान आदि की कौन कहे श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी प्रगतिवादी कहलाएँगे और उनकी वे सब कविताएँ प्रगतिवादी कहलाएँगी जिनमें समाज-सुधार तथा राष्ट्रीय उत्थान की भावना और प्राचीन सस्कृति के प्रति अनुराग दिखलाई पड़ता है। पर कट्टर प्रगतिवादी यह सुन कर काटने दौड़ेंगे। उन्हें इसमें रूढ़ि दिखलाई पड़ेगी। ठीक है, प्रगति दो प्रकार की हो सकती है—प्राचीन को लिये दिये आगे बढ़ना और प्राचीनता का सर्वथा त्याग कर आगे बढ़ना। ऊपर जिनका नाम आया है वे आगे तो बढ़े पर प्राचीनता का त्याग न कर सके। अतः यदि उन्हें प्रगतिवादी न कहा जाय तो कोई बात नहीं। पर जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा इत्यादि ने तो अन्धपरम्परा के त्याग करने में कुछ उठा नहीं रखा है। उनमें परम्परा के प्रति भीषण विद्रोह के साथ ही साथ वर्तमान

के प्रति भीषण असन्तोष दिखलाई पड़ता है। उनमें कविता का न तो पुराना ढाँचा है और न पुराना विषय। ऐतिहासिक और पौराणिक कथाएँ प्रायः त्याग दी गईं और काव्य का चरम उत्कर्ष प्रबन्ध-काव्य मे न मानकर मुक्तक प्रगीतो मे समझा गया। परम्परासिद्ध उपमानो के स्थान में नवीन और सूक्ष्म उपमान ग्रहण किये गये। छन्द बदले। भाषा की भाव-भंगिमा दूसरी हुई। शास्त्रानुमोदित प्रमाणो की उपेक्षा हुई और वैयक्तिक अनुभूति की प्रधानता। इस प्रकार कविता के क्षेत्र मे ऐसा परिवर्तन हुआ जिससे उसमे विषय ही नहीं बढ़े वरन् गुण मे भी वृद्धि हुई। पर कट्टर प्रगतिवादी इसे भी प्रगति मानने के लिए तैयार नहीं। वे तो इसे छायावाद की विशेषता मानकर प्रगतिवाद का विरोधी कहेगे।

इससे यह स्पष्ट है कि प्रगतिवाद की प्रगति सामान्य अर्थ मे नहीं समझी जा सकती। सम्भवतः इसी दृष्टि से पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है* कि इसका स्वरूप क्या है, इसे और तो और, इसके पक्ष का समर्थन करनेवाले भी नहीं बतला सकते और प्रगति के लिए उन्होने पुरोगति का प्रयोग किया है। अब यदि प्रगतिवादियों की दी हुई परिभाषाएँ† लें तब भी इसके स्वरूप का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। ऊपर जो प्रगति बतलाई

---

* क्रु० दे० 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' पृष्ठ ८४

† मानव स्वतन्त्रता के सामाजिक विस्तार का ही दूसरा नाम प्रगति है। क्रु० दे० अचल जी का 'समाज और साहित्य' पृष्ठ २००

गई है वह 'मानव स्वतन्त्रता का सामाजिक विस्तार' नहीं तो क्या है ? कहा जा सकता है कि उक्त प्रकार की कविताएँ प्रगतिशील कही जा सकती हैं क्योंकि उनमें कविता की प्रगति है, पर प्रगतिवादी कविता की प्रगति का तात्पर्य है मानव-जीवन की प्रगति से। अतः वे ही कविताएँ प्रगतिवाद के अन्तर्गत आ सकती हैं जो मानव-जीवन की प्रगति को लेकर चलें। तब प्रश्न यह उठता है कि जीवन की परिभाषा क्या है ? प्रगतिवाद के प्रकाण्ड पण्डित अंचल जी "बाधाओ और विफलताओ, संघर्ष और द्वंद्वात्मक गति का नाम जीवन"* मानते हैं। क्या यह परिभाषा अव्याप्ति दोष से मुक्त मानी जा सकती है ? जीवन तो बहुत व्यापक है। वह एक दृष्टि से कैसे देखा जा सकता है ? यदि ऐसा होता तो संसार मे इतने वाद और इतने दार्शनिक कैसे होते ? वस्तुतः अपने भावों, विचारो और व्यापारो को दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों से लड़ाना जैसे जीवन है उसी प्रकार उन्हें मिलाना भी। जीवन में यदि घटनाओं का स्थान है तो भावनानो का भी। अस्तु, स्पष्ट है कि प्रगतिवादियों की परिभाषा से बँधी कविता एकांगिता से मुक्त नहीं मानी जा सकती। जैसा कि कविता के शास्त्रीय पक्ष का विवेचन करते समय स्थान स्थान दिखलाया जा चुका है 'उस पार' को छोड़कर 'इस पार' आ जाने पर भी वह जगत् के एक नगण्य कोने (रूस) में ही नाचती है। 'इस पार' के अनन्त

* दे० 'समाज और साहित्य' पृष्ठ १५४

रूपात्मक क्षेत्र तक उसकी पहुँच नहीं है। उसमें जीवन की व्याप्ति केवल अर्थ और काम तक ही है। फलतः उसमें जीवन की विविधता और अनेकरूपता के दर्शन दुर्लभ हैं। अस्तु नाम देखकर इसे कवि-कर्म की चरम साधना कहना उतना ही भ्रामक है जितना प्रगतिवादी कविता को रस पूर्ण सिद्ध करने के लिए 'साधारणीकरण' और 'सामूहिक भाव' का एक मानना।

अंचल जी 'समाज और साहित्य' मे लिखते हैं कि काडवेल के 'कलेक्टिव इमोशन' को ही शुक्ल जी 'साधारणीकरण' का नाम देते थे, इसमें मुझे संदेह नही है। यह कथन सचाई से उतनी ही दूर है जितनी वादग्रस्त प्रगतिवादी कविता साधारणीकरण से। साधारणीकरण न कोई भाव है और न रस। वह तो रस की प्रक्रिया है जिसके द्वारा काव्यगत कोई भाव समस्त पाठक या श्रोता का भाव बन जाता है और आलंबन अपनी व्यक्तिगत विशिष्टता छोड़कर सर्वसामान्य का आलंबन हो जाता है। किन्तु सामूहिक भाव कवि के मनोभाव हैं जो उस समूह विशेष के हितो की दृष्टि से उसके मन में उठते और व्यंजित होते है जिसका वह प्रतिनिधि होता है। साधारणीकरण की स्थिति व्यक्ति को अपने कुशल-क्षेम के घेरे से ऊपर उठा देती है, किन्तु सामूहिक भाव (जिसे अंचल जी ने रस की संज्ञा दी है) स्वार्थ-वृत्ति के बिना पनप ही नहीं सकता। पहले में बुद्धि लुक-छिप कर कार्य करती है—प्रत्यक्ष भाव होता है, किन्तु दूसरे का परिचालन स्पष्ट बुद्धि से होता है। पहले में सब को स्थान है,

किन्तु दूसरे मे वर्ग विशेष को। अस्तु, साधारणीकरण को सामूहिक भाव कहना या तो भ्रम के कारण है या प्रगतिवाद का प्रचार-कार्य मात्र है जिसमे सचाई का रहना आवश्यक नहीं समझा जाता।

प्रगतिवाद जब सभी प्राचीन मान्यताओ को शोषक वर्ग के शोषण का साधन मानता है तब वह साधारणीकरण की अपेक्षा करेगा ही क्यो ? साधारणीकरण तो उसी कविता में हो सकता है जिसमे विषय और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक सम्बन्ध हो, किन्तु प्रगतिवादी कविता उन दोनों के बीच बौद्धिक सम्बन्ध प्रतिष्ठित करती है और राजनीति मनोविज्ञान इत्यादि से सामग्री लेकर बुद्धि के अनुशासन में अपनी नयी सृष्टि करती है जो सीधे बुद्धि से टकराती है। इस प्रकार वह कविता के प्राण (रागतत्व) का ही तिरस्कार करती है जिससे साधारणीकरण का त्याग आपसे आप हो जाता है । बात यहीं खतम नहीं हो जाती। प्रगतिवाद की भाषा भी विचित्र होती है। शब्द-चयन में न तो वह 'अप्रतीतत्वदोष' की परवा करता और न 'ग्राम्यत्व' की। एक ओर तो वह अनेक शास्त्रों के शब्द लेता है और दूसरी ओर गली-कूँचों में व्यवहृत शब्दों का बाजार लगा देता है। इतना ही नहीं, वह उनका अनर्गल प्रयोग भी करता है। इसी प्रकार उसकी अप्रस्तुत योजनाएँ भी अद्भुत ही होती हैं। ऐसी अवस्था मे साधारणीकरण तो दूर की बात है वैयक्तिक विचार तक प्रभावपूर्ण नहीं हो पाते।

यहाँ प्रगतिवाद का विवेचन अभीष्ट नहीं क्योंकि पीछे यह यथास्थान किया जा चुका है। यहाँ तो केवल यह दिखलाना अभीष्ट था कि हिन्दी कविता जब वादग्रस्त हो गई तो उसका विकास ही नहीं रुक गया वरन् वह ऐसे दलदल में जा फँसी कि उसका कोई स्वरूप तक न रह गया। सामान्य भावना और आदर्श का विरोध कविता का लक्ष्य हो गया और अब वह साम्यवाद के प्रचार का साधन बन गई है। उसका वास्तविक प्रगति से कोई नाता नहीं रह गया है; उसमें साम्प्रदायिक प्रगति भले हो।

यहाँ तक हुआ छायावाद और प्रगतिवाद का सामान्य परिचय। अब नवीन कविता का शास्त्रीय पक्ष लीजिए। विभाव की दृष्टि से जब हम उसे देखते हैं तो पता चलता है कि नवीन कविता में प्राचीन कविता से कोई बहुत बड़ा तात्त्विक अन्तर नहीं हुआ है। जो अन्तर लक्षित होता है वह परिस्थितियों के परिवर्त्तन के कारण। पहले जीवन में इतनी अस्थिरता, इतना अविश्वास न था। अतः मनुष्य अपने पार्थिव अभावों की पूर्त्ति के लिए प्रयत्न करते हुए भी पारमार्थिक चिन्तन की थोड़ी-बहुत परवा अवश्य करता था। इसलिए बहुत से उच्चकोटि की प्रतिभा वाले कवि ईश्वर-भक्ति की ओर झुके थे। वे 'प्राकृत जन' का गुण-गान करना कविता का दुरुपयोग समझते थे। राजनीति के क्षेत्र में राजा ईश्वर का अंश समझा जाता था क्योंकि उसमें

विभावगत विशेषताएँ

भी ईश्वर के समान रक्षकत्व की भावना की जा सकती थी। अतः वह 'प्राकृत जन' से कुछ ऊपर उठा हुआ अवश्य कहा जा सकता था। इसीलिए राजाओं की प्रशस्तियों के भीतर भी उच्च भावों का समावेश हो जाता था। उच्च वर्ग के जीवन का जैसा अच्छा प्रभाव दूसरे के जीवन पर पड़ सकता है उतना सामान्य व्यक्ति के जीवन-वृत्तान्त से नहीं। सम्भवतः यही कारण है कि उस समय कविता के उपयुक्त विषय ईश्वर, राजा अथवा उच्च वर्ग के व्यक्ति समझे जाते थे। पर अब परिस्थिति कुछ भिन्न है। आज पार्थिव अभावों की पूर्ति में व्यस्त व्यक्ति को पारमार्थिक चिन्तन के लिए बहुत ही कम अवकाश रह गया है। राजनीति का शासन संस्कृति पर होता जा रहा है। अतः राजनीतिक परिवर्त्तन के साथ सांस्कृतिक क्रान्ति चल रही है। सामाजिक व्यवस्था भंग हो रही है। चारों ओर अविश्वास बढ़ रहा है। जीवन में अनेक जटिलताएँ आ गई हैं। ईश्वर-सम्बन्धी विश्वास डाँवाडोल है। राजा और सामान्य व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं रह गया है। साम्यवाद ज़ोर पकड़ रहा है। इससे अब कविता में ईश्वर अथवा राजा का कोई विशेष सम्मान नहीं रह गया है। जीवन की अनेक समस्याओं से ऊबा हुआ मनुष्य कभी प्रकृति की शरण में जाकर शान्ति तलाशता है और कभी समस्त ब्रह्माण्ड में आग लगाने की आकांक्षा करता है। सारांश यह कि वर्तमान कवि के लिए कविता का विभाव पक्ष व्यापक हो गया है। कवि के सामने राजा और उच्च वर्ग के

व्यक्ति ही नहीं आते, वरन् अनन्त प्रकृति फैली पड़ी है। धर्म पर निष्ठा न होने के कारण प्राचीन ज्ञान श्रद्धा का विषय नहीं रह गया। उस पर अब ऐसा विश्वास नहीं रह गया है कि मनुष्य के हृदय में तरह-तरह की शंकाएँ न उठें। शंकाएँ उठकर कुतूहल का आविर्भाव कर रही हैं। इस कुतूहल में पड़कर छायावाद का कवि जिज्ञासु होकर अनन्त प्रकृति को देखता है। पर उसका कोई विशिष्ट स्वरूप नहीं स्थिर कर पाता। फिर वह अपनी कविता में उसका स्पष्ट स्वरूप कैसे रखे ? आज आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। पर वह मूल रूप से हमारे साथ बद्ध है। अतः कवि इस संसार के प्रत्येक पदार्थ तथा अनुभूति में आध्यात्मिकता का रंग चढ़ाना चाहते हैं—चाहे वह कृत्रिम ही क्यो न हो। कल्पना में विचरण करनेवाले कवि की दृष्टि निराकार भावना पर अधिक पड़ती है जिसके कारण वेदना, करुणा, श्रद्धा, लज्जा इत्यादि को सजीव रूप दिया जाता है—भले ही उसे साकारता न प्राप्त हो। भावुकता से ऊबे हुए, कल्पना और कृत्रिमता से चिढ़े हुए कवि नरक्षेत्र में विचरते हैं और दूर-दूर की सुन्दर-असुन्दर सभी वस्तुओ का संग्रह करते हैं; उसमें कार्ल मार्क्स फिक्टे, कांट इत्यादि हैं तो मेढ़क, चप्पल, गधा, मूत्र इत्यादि भी—भले ही ये भावात्मक सत्ता पर प्रभाव न डाल पाते हों। सारांश यह कि वर्तमान काल का कवि भी अपने विभाव पक्ष को जगत् और जीवन से ही पाता है। हाँ, परिस्थिति

में बँधकर वह उसमें अनेक प्रकार की कारीगरी भले करता हो।

विभाव के अनन्तर जब भाव पर आते हैं तब वहाँ भी देखते हैं कि नवीन कविता उन्हीं आठों रसो के अन्तर्गत आती है जिनमें प्राचीन कविता हुई है। यह कहना कि यदि पं० रामचन्द्र शुक्ल का साधारणीकरण लेकर कविता चलती तो वह न जाने कब की मर गई होती, अपने ज्ञान का थोथापन दिखलाना है। कविता कविता तभी कही जायगी जब उसमें साधारणीकरण करने की शक्ति होगी। हाँ, तो जिस प्रकार प्राचीन कविता में रति-भाव की प्रधानता थी उसी प्रकार वर्तमान कविता में भी है। इसमें सन्देह नहीं कि पुराने कवियो ने स्त्री और पुरुष के शरीर-सौंदर्य की ओर ही विशेष ध्यान दिया है, अंतर्जगत् में जो परम सौंदर्य छिपा हुआ है उस पर विशेष दृष्टि नहीं डाली है। छायावाद की कविता भौतिक जगत् से ऊबी सी और मानस-जगत् की ओर अधिक उन्मुख दिखाई देती है। अतः आलंबन विभाव की अस्पष्टता के कारण लौकिक रति में भी आध्यात्मिकता का रंग चढ़ा रहता है—रहस्यात्मक कविता में तो रहना ही चाहिए। उसमें तो इस प्रकार के रहस्य सिद्धान्तों के आभास भी बराबर मिला करते हैं कि इस बँधे हुए जगत् मे आत्मा स्वच्छंद नहीं विचर पाती, उसके स्वच्छंद विचरण के लिए कल्पना अनेक क्षेत्र खोलती रहती है, जहाँ इस जगत् के देशकाल सम्बन्धी भौतिक नियम बाधक नहीं होते। अतः साम्प्रदायिक

रहस्यवाद के अनुसार भौतिक रूप असत्, पर कल्पना या स्वप्न में आए हुए रूप सत् अर्थात् आध्यात्मिक जगत् के आभास हैं।* इस प्रकार की कविता में उत्कंठापूर्ण जिज्ञासा, अनिर्दिष्ट स्मृति और स्वप्न की बाढ़-सी रहती है। रति के वियोग-पक्ष में छायावादी कवियों की वृत्ति पुराने कवियो की अपेक्षा अधिक कोमल है; दुःख की दशा में भी उत्कृष्ट भावों के लिए उनके हृदय में स्थान रहता है, उनके वियोग का स्वरूप उतना लयकारी नहीं जान पड़ता। आलंबन-भेद से रति के जो कई स्वरूप प्राचीनो ने निर्दिष्ट किए थे उनको वर्तमान काल में जगह नहीं मिलती। यदि रति का और दूसरा स्वरूप मिलता है तो वह है ईश्वर-विषयक रति और देश-विषयक रति। पर ईश्वर-विषयक रति में वह पूज्य भाव नहीं मिलता जो पुराने कवियो की विनय में दिखाई पड़ता था। हाँ, ईश्वर-विषयक मीरा तथा गोपियों

---

* मानस की फेनिल लहरो पर
किस छवि की किरणें अज्ञात
रजत स्वर्ण मे लिखती अविदित
तारक-लोको की शुचि बात
... ...
जग के निद्रित-स्वप्न सजनि! सब
इसी अधतम मे बहते
पर जागृति के स्वप्न हमारे
सुप्त हृदय ही मे रहते—पत

इत्यादि की वह विशुद्ध रति मिलती है जिसमें ईश्वर की भावना प्रियतम के रूप मे की गई है। प्रगतिवाद में देशरति ग्रामरति मे सिमिट गई है और ईश्वर-विषयक रति का स्थान विभिन्न सिद्धांतों ने ले लिया है।*

राष्ट्रीय भावना के विकास के कारण नवीन कविता में 'उत्साह' का क्षेत्र विस्तृत तो हो गया—अनेक प्रकार की सद्भावनाएँ तो आईं पर उसमें पक्ष एक ही है। उत्साह-विषयक वर्त्तमान कविता मे वीरत्व के अभ्यंतर स्वरूप के दिग्दर्शन की ओर ही विशेष प्रवृत्ति है, बाह्य पक्ष शिथिल है। युद्धव्यापारादि का वर्णन, हृदय की उमंग, साहस आदि का प्रदर्शन जैसा प्राचीन कविता में हुआ है वैसा नहीं होता। इसके अतिरिक्त वीर रस की कविता का कोई निश्चित ढंग नहीं है, उसमे 'उत्साह' कहीं 'शोक' के साथ, कहीं 'अमर्ष' के साथ उलझता है। प्रगतिवाद में जो ओज रहता है वह प्रायः प्रचारात्मक वाक्य-समूह में दब जाता है जिससे काव्योचित वीरोन्मेष नहीं हो पाता और क्षोभ तथा करुणा का स्वर अधिक तीव्र हो जाता है।

हास्य रस के विषय तो नवीन कविता में खूब बढ़े, पर काव्योचित हास्य पर बहुत कम कविता हुई, अधिक भड़ौआ-संग्रह ही रहा। प्राचीन हास्य शुद्ध विनोद की दृष्टि से लिखा जाता था पर नवीन हास्य में उपेक्षा, घृणा, विरक्ति इत्यादि के भाव छिपे रहते हैं।

---

* कु० दे० पृष्ठ १०१.

नवीन कविता में रति की अधिकता तो है ही पर शोक की भी कमी नहीं है। पुरानी कविता मे कुछ भक्त-कवियों ने लोक की पीड़ा, अव्यवस्था आदि पर अवश्य दुःख प्रकट किया है पर शोक या विषाद मुख्यतः आत्म-पक्ष तक ही रहा। किंतु नवीन कविता में कुछ तो जीवन की कठिनाइयो के कारण और कुछ पश्चिम के निराशावाद (पेसीमिज्म) की नकल के कारण उसकी बाढ़ सी आ गई। यह शोक अनेक रूपो में मिलता है। इधर कुछ दिनों से 'अनल-गान' का राग इसके साथ अलापा जाने लगा है जिससे कविता का स्वरूप और भी अद्भुत हो गया है। पर ध्यानपूर्वक देखने से उन सब रूपो का पर्यवसान दो में हो जाता है—(१) आध्यात्मिक दुःखवादमूलक और (२) राष्ट्रीयता-मूलक। पहले में तो कुछ अस्वाभाविकता दिखाई पड़ती है, पर दूसरे प्रकार के शोक पर अच्छी कविताएँ हो रही हैं। पहले की भी अस्वाभाविकता वहाँ नहीं खटकती जहाँ व्यक्तिगत प्रेम समस्त लोक के प्रति संकेत करता है और व्यक्तिगत वियोग दुःख लोक-दुःख की ओर संकेत करता हुआ लोकोन्मुख करुणा का आभास देता है—

'जगती का कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप पुण्य हो जावे
... .

सबका निचोड़ ले कर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन सा
आँसू इस विश्व-सदन में"

—'आँसू' से

प्राचीन कविता में क्रोध का कारण शत्रु होता था। आश्रय आलंबन के विनाश के लिए गरजता तड़पता था। पर आजकल के क्रोध का कारण लोक की दुर्व्यवस्था, अन्याय-अत्याचार का साम्राज्य है। यदि यह दुर्व्यवस्था दूर नहीं होती तो कवि संपूर्ण भूमंडल का, उसके साथ अपना भी नाश चाहता है। इस क्रोध के मूल में सुधार की भावना तो छिपी दिखाई देती है, किंतु इससे न तो उस वेदना के आवेग का पता चलता है जो इस प्रकार के अमर्ष के मूल में छिपा रहता है और न हृदय को दहलाने वाले क्रोध ही का स्वरूप व्यक्त होता है। इस प्रकार के क्रोध से लोक-मंगल की आशा न करनी चाहिए। पर जो कविता सच्ची राष्ट्रीय भावना से हुई है उसमें जीवन और यौवन है। उससे पता चलता है कि कवि के कान कातर स्वरों से भरे हैं। और उसके नेत्रों ने अन्याय और अत्याचार का नृत्य देखा है।

उपर्युक्त भावों के अतिरिक्त अन्य भावों का अभाव सा है। सौंदर्योपासना के युग में 'जुगुप्सा' आ ही नहीं सकती थी। हाँ, जब से कवि घृणा से प्रेरणा पाने लगे तबसे कहीं कहीं कविता को देखकर जुगुप्सा का संचार हो जाता है। 'भय' और 'आश्चर्य' की

व्यंजना रहस्यमयी उद्भावनाओं में हो जाती है। पर उनकी पृथक् और स्फुट योजना नहीं हो पाती। इस प्रकार नवीन कविता में हमें प्रधान तीन ही भाव मिलते हैं—(१) रति, (२) करुणा और (३) उत्साह। पर इनको ले कर भी प्रबन्ध-काव्य बहुत ही कम लिखे जाते हैं। जो लिखे जाते हैं उनमें भी प्रगीतत्व अधिक रहता है, जीवन की विविध मार्मिक दशाओं का प्रत्यक्षीकरण नहीं। महाकाव्य तो नवीन हिंदी-कविता में ढूँढ़ने से भी न मिलेंगे क्योकि वह सदैव अतीत को लेकर चलता है। उसमें कवि को प्राचीन रूढ़ियों से बहुत अधिक बँधा रहना पड़ता है। पर यह युग प्राचीनता के विरोध का है। प्राचीनता का निर्वाह इस काल में अंधविश्वास कहा जाता है; नवयुग की साधना में वह बाधक समझा जाता है। अतः महाकाव्य की रचना के लिए जिन नियमों और रूढ़ियों के पालन की आवश्यकता होती है उनकी अवहेलना अर्वाचीन कवि जान बूझ कर करते हैं अथवा उनके निर्वाह की उनमें क्षमता ही नहीं होती। कुछ भी हो, पर इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि महाकाव्यों का हिंदी-कविता में शोचनीय अभाव है। आजकल की कविता में जो दोष अधिक खटकता है वह है प्रभावान्विति (यूनिटी आव इम्प्रेशन) का अभाव। इसके कारण रसो के लयकारी स्वरूप का अभाव पाया जाता है।

हिंदी की प्राचीन और नवीन कविता में मुख्य भेद भाषा की प्रयोग-पद्धति और अप्रस्तुतों की योजना में पाया जाता है। यह

तो स्पष्ट है कि कवि का लक्ष्य अपनी अनुभूति को लोक-सामान्य भूमि के बाहर ले जाने का नहीं रहा करता, वह श्रोता या पाठक अवश्य चाहता है। पर इधर योरप में जब से राजनीति, समाज-व्यवस्था इत्यादि के क्षेत्र में व्यक्तिवाद की प्रधानता हुई तब से उसका समावेश कविता के क्षेत्र मे भी होने लगा।

कलागत विशेषता

इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ कवि अपनी व्यक्तिगत विशेषता दिखलाने के लिए इस ढंग से भावों की व्यंजना करने लगे जिस ढंग से उन भावो की अनुभूति सामान्यतः नहीं हुआ करती। कविता का आदर्श भूलकर कविगण काव्यानंद को ठीक उसी प्रकार का आनंद समझने लगे जिस प्रकार का किसी सजे कमरे, नक्काशी, बेलबूटे आदि को देखने से होता है। अतः वे युक्तियो के अनूठेपन और व्यंजना के वैचित्र्य को ही साध्य समझने लगे। भाव की सचाई, वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण की ओर उनकी दृष्टि न रही। इसका एक परिणाम यह हुआ कि अप्रस्तुत-रूपविधान में ही कल्पना का प्रयोग होने लगा। यह प्रवृत्ति योरप से भारत में आई है जिससे सबसे पहले बँगला-साहित्य प्रभावित हुआ और बँगला की नकल से हिंदी-कविता में भी ये ही बातें आ गई हैं। छायावाद के कवि तो इस बात में बँगला वालो से भी आगे बढ़ गए। उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता मानने वाले पहले भी रहे है, भेद केवल वैचित्र्य के स्वरूप का रहा है। प्राचीन कविता में यह चमत्कार यमक और

श्लेष इत्यादि अलंकारों से प्रदर्शित किया जाता था। छायावाद में अभिव्यंजना के वैचित्र्य के चमत्कार के लिए लक्षणाओं का अधिक सहारा लिया गया। इससे भाषा की व्यंजकता तो बढ़ी पर साथ ही अँगरेजी और बँगला की नकल के कारण उसमे कुछ दुरूहता आ गई। दुरूहता का एक कारण और हुआ। प्राचीन कविता के अप्रस्तुत विधान में सादृश्य और साधर्म्य के साथ प्रभाव-साम्य दिखलाया जाता था। किन्तु छायावाद मे प्रभाव-साम्य ही प्रधान हो गया, सादृश्य और साधर्म्य गौण। इससे कविता में भाव, गुण अथवा व्यापार की व्यंजना के लिए प्रतीको का व्यवहार अधिक होने लगा, जैसे—प्रफुल्लता के लिए प्रकाश, विषाद के लिए रात्रि, विलाप के लिए अश्रु इत्यादि जहाँ तक ये सार्वभौमिक रहे वहाँ तक तो ठीक रहा। किन्तु जहाँ देशगत और व्यक्तिगत प्रतीको का आग्रह बढ़ा वहाँ कविता ऐसी दुरूह हुई कि कहा जाने लगा कि छायावादी अपनी कविता का अर्थ स्वयं नहीं जानते। इस दुरूहता को दूर करने का प्रयत्न प्रगतिवाद में होने लगा जिससे लक्षणाप्रसूत जटिलता दूर हुई, अप्रस्तुत का लदाव जाता रहा और प्रतिपाद्य में स्पष्टता आई। प्रतीको के प्रयोग की अतिशयता का आग्रह घटा तो अवश्य पर उनकी असामान्यता ज्यो की त्यों बनी रही। अन्तर यह आया कि छायावाद के प्रतीक जहाँ सुडौल और सुन्दर होते थे वहाँ प्रगतिवाद मे वे अनगढ़ और भद्दे होने लगे।*

---

* कृ० दे० पीछे 'प्रगतिवाद मे अलंकार'

छायावाद कही जानेवाली कविता के अप्रस्तुत विधान के सम्बन्ध में विचार करते समय इस बात को न भूलना चाहिए कि वह कई वादों को लेकर अवतीर्ण हुई थी और अस्पष्टता उसकी विशेषता थी। वादों में सबसे प्रधान था रहस्यवाद जो प्रायः छायावाद का पर्याय माना जाता था और कोई अस्पष्ट रचना छायावाद या रहस्यवाद की मान ली जाती थी। यही कारण है कि छायावाद में प्रतीकों का प्रयोग बहुत हुआ क्योंकि रहस्यसापेक्ष धर्म में जिसे छाया (फैंटम) कहा जाता है वही कविता में प्रतीक है। प्रतीक के प्रयोग के आग्रह के कारण ही छायावादी कविता में उपमेय और उपमान को लेकर चलनेवाले रूपक, उपमा इत्यादि अलंकारों का विधान उतना न हो पाया जितना रूपकातिशयोक्ति ऐसे अलंकारों का हुआ। प्रतिपाद्य के दबने का दूसरा कारण अभिव्यंजनावाद है जिसमें अभिव्यंजना की वक्रता ही कविता में सब कुछ मानी जाती है और जिसमें प्रतीकवाद, सम्वेदनावाद इत्यादि बहुत अच्छी तरह खप जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये वाद या तो साहित्य-गोष्ठियों में विवाद (टेबुल टाक) के रूप में आते हैं अथवा पत्र-पत्रिकाओं में छपनेवाली समीक्षाओं में। इन्हें सामने रखकर वहाँ भी कोई कविता नहीं करता जहाँ इनका जन्म हुआ है। फिर रसवादी भारत में यह कैसे होता ? अस्तु, वादों के आग्रह का यह अर्थ नहीं है कि हमारे छायावाद में मार्मिक अनुभूतियों का पता ही न हो, अभिव्यंजन-कला का वैचित्र्य

ही वैचित्र्य हो। एक बात और। छायावाद जिन वादों को लेकर चला वे सब कलाक्षेत्र के हैं। अतः अप्रस्तुत विधान का ळद्राव चाहे जितना रहा हो किन्तु उसमें विरूपता नहीं आई। प्रगतिवाद जिन वादो को लेकर चल रहा है उनमें अधिकतर ऐसे हैं जिनका कला से कोई सम्बन्ध नहीं। प्रगतिवाद में साम्यवाद का वही स्थान है जो छायावाद में रहस्यवाद का। क्योकि साम्यवाद से सम्बन्ध रखनेवाली सभी रचनाएँ प्रगतिवाद की मानी जाती है। कहना न होगा कि साम्यवाद कला के क्षेत्र की बात नहीं। इसका एकमात्र सम्बन्ध राजनीति से है जो जगत और जीवन का बहिरंग लेकर चलती है। इसी प्रकार और जो अनेक वाद प्रगतिवाद मे ग्रहण किये जाते हैं उनका सम्बन्ध विज्ञान से है। सम्भवतः प्रगतिवाद के अप्रस्तुत विधान की जड़ता और कुरूपता का एक कारण यह भी है।

नवीन कविता में कवित्त, सवैया इत्यादि प्राचीन छंदों का प्रायः त्याग किया जा रहा है। इनके स्थान में नए नए छन्दो का विधान कहीं पर कुछ घटा-बढ़ा कर किया जा रहा है। जहॉ पर केवल नवीनता-प्रदर्शन का विचार नहीं वरन् संशोधन की दृष्टि रहती है वहॉ तक यह प्रवृत्ति श्लाघ्य है। किन्तु जहॉ व्यक्ति वैचित्र्यवाद को लेकर यह प्रवृत्ति चलती है वहॉ कविता को क्षति पहुँच रही है। इसके अतिरिक्त छन्द-विहीन कविताएँ भी लिखी जा रही हैं। छायावाद में इसका प्रचार अधिक न हुआ। किन्तु प्रगतिवाद में यह अनर्गलता बहुत बढ़ रही है जिसे देखकर

कविता प्रेमी का हृदय क्षुभित हुए बिना नहीं रह सकता। प्राचीन कवियों—कबीर, सूर, तुलसी, मीरा इत्यादि ने पुरानी कविता में भी गीत लिखे हैं, पर ये गीत उस युग को किसी बँधी हुई प्रवृत्ति के द्योतक नहीं हैं। किन्तु प्रसाद-काल को कला की दृष्टि से गीत-काल के नाम से भी अभिहित कर सकते हैं।

यद्यपि यह युग रस, अलंकार, वृत्ति इत्यादि के विरोध का कहा जाता है पर यथार्थतः इनका त्याग न हुआ है और न हो सकता है। यह बात दूसरी है कि कहीं कहीं पर उनकी योजना इस नूतन ढंग से होती है कि उनमें कोई तात्त्विक अन्तर न होते हुए भी नवीनता झलकने लगती है। पहले उत्प्रेक्षा,उपमा इत्यादि सांगोपांग रहती थी और आजकल प्रतीका के बल पर चलनेवाली रूपकातिशयोक्तियों की ओर विशेष प्रवृत्ति है। वस्तुतः अभिव्यंजनावाद के युग में अलंकारो का त्याग असम्भव है। उसी प्रकार बढ़ते हुए संवेदनावाद के पड़ास में रीति इत्यादि की उपेक्षा कठिन है।

जिस प्रकार पुराने छन्दो का त्याग हुआ है या हो रहा है उसी प्रकार प्राचीन काव्य-भाषाओ का भी। ब्रज और अवधी के स्थान में खड़ी बोली अपना पूर्ण आधिपत्य जमा चुकी है। दीर्घांतपदत्व और बड़ी बड़ी क्रियाएँ खड़ी बोली की कर्कशता का कारण हैं। छायावाद में इसका त्याग किया गया। व्याकरण की व्यवस्था होने के कारण छायावाद की भाषा व्यवस्थित है। हाँ, व्यक्ति वैचित्र्य, स्वच्छन्दप्रियता और नवीनता-प्रदर्शन की रुचि के

कारण कहीं-कहीं दुष्ट प्रयोग और अन्य भाषाओं के प्रयोगों का अनुचित मिश्रण मिलता है। कहीं-कहीं न्यूनपदत्व भी रहता है जिससे कविता में दुर्बोधता आ गई है। लक्षणा के प्रयोगों से अभिव्यंजना का वैचित्र्य तो अवश्य आया पर साथ ही भाषा में क्लिष्टता आ गई है। मुहावरों का अभाव भी खटकता है। उनका प्रयोग यदि किया भी गया है तो प्रायः अँगरेजी के मुहावरों का। उपर्युक्त कारणों से भाषा में कुछ अनर्गलता अवश्य आई है, किन्तु यह सब होते हुए भी मानना पड़ेगा कि छायावादी कवियों के हाथों में पड़ कर भाषा की व्यंजकता खूब बढ़ी। प्रगतिवाद में कहने के लिए तो भाषा को सरल बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है और वह कुछ सीमा तक सरल हुई भी है, किन्तु बजारू, देहाती, राजनीति और विज्ञान-शास्त्र के सैद्धांतिक शब्दों के कारण उसमें 'च्युत संस्कृत', 'ग्राम्यत्व' इत्यादि दोष भी आ रहे हैं।

नामानुक्रमणिका

(ग्रंथ और ग्रंथकार)

अंचल ३१, ९८, १३३, १९३, १९८, २५५, २५७

अज्ञेय १९६

अनुभूति ८९

अयोध्यासिह उपाध्याय ७, २०२, २०३, २०४, २१८, २३६, २५४

ऑसू ३५, ७२, ८१, ८२, ९०, ९१, १७७, १९१, २३९, २६६

आक्सफोर्ड लेक्चर्स आन पोयट्री १५०

आल्हा खण्ड २१६

ई. ए. ग्रीनिग लम्बोर्न २०१

उपाध्यायजी—देखिए 'अयोध्यासिह उपाध्याय'

कबीर ३३, ६९, ९५, २७२

कमिंग्ज सा० २२८

कानन-कुसुम १६

कामायनी १६, २७, ४२, ८०, १७८, १९१, २१९

कार्ल मार्क्स ४५, १७१

काव्यकल्पद्रुम ७८

काव्य मे रहस्यवाद ११, २०७

काव्यालंकारसूत्र २२२

किसान ७१

कुतबन ६९

कुरुक्षेत्र ११७, १४४

केदार (केदारनाथ अग्रवाल) २३, २४, ३१, १३६, १६०, १७१, १९५, २०६

केशव २०२

गुजन २१९

गुलाब ३०

ग्राम्या २४, १०२

गोस्वामीजी—देखिए 'तुलसी'

घनआनन्द (घनानन्द) ७४, ९०, ९१, २३५

चकोरी—देखिए 'रामेश्वरी देवी (चकोरी)'

चन्द्रालोक १६१

चिंतामणि २२७, २२८

चुभते चौपदे २०४
चोंच-चालीसा १२४
चोंच-महाकाव्य १२३
चोखे चौपदे २०४
छाया ३८, ३९
जयद्रथवध ७१, ११२, ११५
जवाहरलाल (पंडित) ९८
जागरण वीणा २५१
जायसी ३१, ६९, ९३, ९५, २३३
जूही की कली ९७, १०४
झरना २२
टेनीसन १
तारसप्तक २२९, २३०
तुलसी (तुलसीदास, गोस्वामी) ३, १४, १५, ३३, ३४, ३६, ३९, ४३, ७०, ९९, १३२, १५५, १६८, १७४, १७५, १८५, २१२, २२५, २३३, २३४, २४१, २७२
दयानन्द (स्वामी) ७०
दास—देखिए 'भिखारीदास'
दिनकर ४८, १०३, ११७, ११९, १४४, १७१
देव २८, ७०, २२५
देवीप्रसाद गुप्त २१८
द्वापर ४१
द्विज ५७, १२९
द्विजदेव ३७
द्विवेदीजी—देखिए 'महावीरप्रसाद द्विवेदी'
नरेन्द्र ५७, ११४, १३३, १९४, १९८
नवीन १४१
निराला ७, १८, ९७, १२४, १३५, १७१, २०५, २१९,२५१
नीहार १६
पचवटी २०५
पत (सुमित्रानन्दन) ७, ९, १०, २१, २४, २९, ३०, ३९, ७२, ८८, ९४, १०४, १०५, ११४, १३१, १३२, १४३, १५७, १५८, १५९, १६९, १७१, १७८, १७९, १८१, १८२, १८३, १८६, १८७, १९०, १९३, २०४, २०५, २०८, २०९, २११, २१९, २२५, २३९, २४९, २५०, २६३
पडितराज जगन्नाथ तैलग २३१
पथिक ४१
पद्माकर ५९
पद्मावत ८२, २३३
पल्लव १६, १५७, १८१, १८९, २१२, २१९, २२५, २२६, २३९

पृथ्वीराज रासो ६८
प्रतापनारायण ६
प्रभाकर माचवे २०६
प्रसाद (जयशंकरप्रसाद) ७, ९, १०, २६, २८, ३७, ४२, ५२, ७२, ७५, ७६, ८२, ९१, ९४, ९६, १०१, १०४, ११७, १६९, १७२, १७३, १७६, १८२, १८४, १८६, १८७, १८८, २०८, २११, २४०, २५४
प्रिंसिपल आव् क्रिटिसिज्म १५०
प्रियप्रवास ७, २०३, २११, २३६
पेटस्तोत्र ५०
प्रेमघन २१८
प्रेमपथिक ७६, ९४
प्रेमी १२१
प्रेमसगीत १३३
बच्चन १३३
बदरीनारायण भट्ट २५०
बादल १३१
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ५६
बिहारी ३०, ७०, ८३, १४३, १६५, २३४
बिहारीसतसई २४१
बीसलदेव रासो ६८, २१६
बेनी १२२
बोधा ७४
बोलचाल ७१, २०४
ब्रैडले (डॉ०) १५०
भगवतीचरण वर्मा १०२, १३३, १३७
भट्ट ५९
भवभूति ७५
भामह १५६, २२३
भारत भारती ७, ७१, ११२
भारतेन्दु (भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र) ५, ६, ९, २१, २०२, २०४, २१८, २३६, २५४
भिखारीदास २३५, २४१
भिक्षुक ५३
भूषण ४, १०९, ११०, २२५
मतिराम ३०, ७०
मधुकरी १३१
मम्मट २२३
मलिक मुहम्मद (जायसी)—देखिए 'जायसी'
महात्मा गान्धी ११२
महादेवी वर्मा ७, १८, ३५, ७२, ८७, ९९, १२९, १३०, २२०, २५२, २५४
महावीरप्रसाद द्विवेदी ९, २६, ३७, २३७

मृगावती २३३
माखनलाल चतुर्वेदी ४७, ४८
मीरा २७२
मुकुटधर पाण्डेय २५०
मैथिलीशरण गुप्त ७, ४१, ४४, ९३, १९०, २३७, २४०, २५०, २५४
मैथ्यू आरनोल्ड ३९
युगवाणी २५१
रग मे भग ७१
रघुनाथदास २३४
रत्नाकर ७, २३५
रसखान २३४
रसमीमासा १२, ७३
रागेय राघव १९६
रामकुमार वर्मा ५२, ७५, १००, २५२
रामचन्द्र शुक्ल (आचार्य) १२, ६२. ६८, ७३, ७८, १५३, १६३, १७६, २११, २२८, २३२, २५०, २५२, २५७, २६२
रामचन्द्रिका १६५
रामचरितमानस ५०, १८०, २२७, २३३, २४१
रामनरेश त्रिपाठी ४१
रामविलास शर्मा २२१
रामाज्ञा द्विवेदी २०५
रामेश्वरीदेवी (चकोरी) ४०, १४२
रासो १०९, २३२
रेणुका १४०
लहर १६
लक्ष्मणसिह (राजा) २३५
लाल १०९
लाला भगवानदीन २०४
वनश्री १६
वाङ्मय-विमर्श ७२
विद्यापति २१७
विधवा ५३, ५४
विनयपत्रिका १२८
वियोगी हरि ७
विश्रामसागर २३४
विश्वनाथ महापात्र २३१
विश्वनाथप्रसाद मिश्र ४८,७२,२५५
वीरपचरत्न ७१, ११५, २०४
वेबेस्टर २३१
शिशु १३१
शुक्लजी—देखिए 'रामचन्द्र शुक्ल (आचार्य)'
श्यामनारायण पाण्डेय, १३०
श्रीधर पाठक ३७, ३८, २१८, २२१, २३५
सनेही ११३

समाज और साहित्य २५५, २५६, २५७
साकेत ८०, ९२, २१९, २२७, २३९
सियारामशरण गुप्त ५३
सुजानसागर ९०, ९१
सुभद्राकुमारी चौहान २५४
सुमन ११४, १४४, १९४
सूदन २२५
सूर (सूरदास) ३, ३३, ६९, ९३, ९९, १६६, १६७, १७५, १७८, २१२, २१७, २३२, २३३, २७२
सूरसागर ५०
सौरभ २०५
हल्दीघाटी ११७, १२०
हरिऔध—देखिए 'अयोध्यासिंह उपाध्याय'
हरिकृष्ण प्रेमी ८३, १३०
हार्डी १३३
हिन्दी का सामयिक साहित्य २५५
हिन्दी साहित्य का इतिहास ८०, १७६, २३२, २५०
हुकार ११७

लेखक की अन्य रचनाएँ

विद्यापति

जीवन ज्योति

राजनीति परिचय